प्रकाशक
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
बनारस

प्रथम संस्करण
चैत्र सम्वत् २००५
मू० २ रु० ७५ नये पैसे

ओम् प्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी

नवजाग्रत नैपालके तरुणोके अग्रणी

'वीर विश्वेश्वर'

श्री विश्वेश्वरप्रसाद् कोइराला

को

सस्नेह भेंट

प्राक्कथन

'सामयिकी' के बाद 'पथचिह्न', 'पथचिह्न' के बाद यह 'धरातल' है।

'सामयिकी' के पहिले ही 'युग और साहित्य' द्वारा मैंने जिस सामयिक जगतमें प्रवेश किया था, 'धरातल' द्वारा उसीके संक्रमण-कालमे पहुँच गया हूँ। मेरी अन्य साहित्यिक रचनाओमे भी युग-स्पर्श है, किन्तु उनमे जीवनकी स्थायी प्रवृत्तियोकी प्रधानता है। तात्कालिक रचनाओमें भी उन्ही प्रवृत्तियोकी प्राण-प्रतिष्ठा है। समयके साथ-साथ शरीरकी तरह मेरी रचनाओमें बाह्य परिवर्त्तन होता गया है,किन्तु चेतना चिरन्तन है।

नवम्बर सन् '४४ से मार्च सन् '४६ तक 'वीणा' के सम्पादन-कालमे साहित्यिक जगतसे तटस्थ होकर मुझे एकान्त-चिन्तनका सुअवसर मिला। उस समय युद्धजन्य परिस्थितियोके कारण देशमे शनै. शनै जो परिणाम प्रत्यक्ष होने लगे उनसे आधुनिक तन्त्र, यन्त्र और अर्थशास्त्रके प्रति मन आश्वस्त नही रह सका। मुझे ऐसा जान पडा कि अब शाब्दिक रचनाका समय नही है, समाप्तप्राय मूल्योंके लिए लेखनीका व्यवसाय करते रहना केवल कालक्षेपण करना है। मेरे सामने भविष्यका सकेत स्पष्ट हो गया—साहित्यमें जीवनके मूलस्वरोको सँजोते-जुगोते रहना और लोकनिर्म्माणमें सक्रिय सहयोग देना।

विगत युद्धके दूसरे वर्ष (सन् '४०) का स्वागत करते हुए कविने कहा था—

'आओ हे दुर्द्धर्ष वर्ष! लाओ विनाशके साथ नव सृजन
विश्व शताब्दीका महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन'

उस 'उत्तर यौवन', उस 'नव सृजन' का दायित्व साहित्यकारोपर भी है, वे ही जीवनका बीजमन्त्र साहित्यमें सुरक्षित रखते आये है।

नवनिर्म्माणमें साहित्यकी साधना साकार करनेके लिए 'वीणा'-परिवारके कुछ मित्रोंने मध्यभारत साहित्य समितिको अपना कर्म्मयोग समर्पित किया था। इन्दौरके अभिन्न-हृदय वीरेन्द्र-द्वय अपने साथियोंके साथ एक ओर गान्धीजीके श्रम-यज्ञमें सलग्न हो गये थे, दूसरी ओर ललित और वास्तुकलाका एक लोक-संग्रहालय स्थापित करनेके लिए सयत्न।

'वीणा'के सम्पादकीय पदसे मैंने 'धरातल' के विचारोका पूर्वाभास देनेका प्रयत्न किया था। संस्कृतिकी साधना ग्रामोद्योगमें और कलाकी आराधना जन-सस्कारितामे सजीव हो सकती है; यही मेरा सुखद स्वप्न है, यही युगका सुरम्य भविष्य है।

काशी आनेपर मैंने अपने सुषमित स्वप्नको प्रात स्मरणीया स्वर्गीया वहिन कल्पवती देवीके सास्कृतिक सस्मरण ('पथचिह्न') मे अंकित किया। 'पथचिह्न' मे व्यक्तिके माध्यमसे युगका गन्तव्य है।

'धरातल' : युगके ससरणके लिए उसी 'पथचिह्न'की धारणा-भूमि है।

'धरातल' शब्दमें श्लेष है : इसमें धराके तल और जीवनके तलका सन्निवेश है। दोनो तल भू-प्रतिभू है, परात्पर है।

साधनाकी जिस स्वाभाविकतासे धरा उर्व्वरा वनती है उसीकी अनुरूपतासे जीवन भी उर्व्वर (विकासशील) वन सकता है। कृषि है जीवनकी स्वाभाविक साधना, कृषक है वसुन्धरा के 'आत्मा वै जायते पुत्र'।' कृषकको तरह पृथ्वीपुत्र वनकर ही संस्कृति और कलाका जीवन्त धरातल प्रस्तुत किया जा सकता है।

समाजका अस्तित्व कृषिपर निर्भर है। जीविका-रहित आदिम वर्व्वर मानव कृषिजीवी होकर ही सामाजिक एव सास्कृतिक प्राणी वन सका था। जव-तक ग्रामीण जीवन कृत्रिम नागरिक अर्थशास्त्रसे स्वतन्त्र था,स्वावलम्वी था,तवतक समाजका गार्हस्थिक सौष्ठव वना हुआ था। जवसे नागरिक अर्थशास्त्रने कृषिको अपनी कृत्रिमतासे वाँध लिया तवसे सामाजिक जीवनका स्रोत सूखने लगा।

समाजमे यो तो अनेक वर्ग, अनेक श्रेणियाँ है, किन्तु कृत्रिम (मुद्रागत) अर्थशास्त्रके कारण समाज स्पष्टत. दो खण्डोमे विभक्त हो गया है, वे दो खण्ड है— उत्पादक और उपभोक्ता; ठीक अर्थमें इन्हे ही शोषित और शोषक कहा जा सकता है।

युद्धकालीन शोषणके कारण उत्पादन तो कम पड़ ही गया, अव उत्पादकोकी संख्या भी कम होती जा रही है, उपभोक्ताओकी सख्या वढती जा रही है। जो अभी उत्पादक है वे भी पैसेकी प्रचुर शक्ति देखकर उपभोक्ता वननेका प्रयत्न कर रहे है—किसानसे मजदूर, मजदूरसे व्यापारी। पैसेके लिए किसान किसी भी

नागरिक श्रेणीमे सम्मिलित होना पसन्द करता है—चाहे फौज हो, पुलिस हो, मजदूरी हो, शहरका कोई भी रोजगार हो।

आज किसानपर दुहरा भार है। उसे कृषिकी भी चिन्ता करनी पडती है और पैसेकी भी। पहिले किसानको अन्न-वस्त्र, गाय-बैल और लगानके लिए पैसेका मुँह नही जोहना पडता था, नगरोका मोहताज नहीं होना पड़ता था; कृषिकी साधनामे ही वह जीवनके सब साधन पा जाता था। अब विवश होकर पैसेके लिए उसे नगरोमें आना पड़ता है, अपने प्राणोसे प्यारी खेतीको या तो बेच देना पडता है या रेहन रख देना पडता है। गाँवोकी धरती उस हतभागिनी माताकी तरह दीन-हीन है जो न अपने बच्चोको खिला-पिला सकती है और न स्नेहकी थपकियोसे उनका हृदय हुलसा सकती है।

धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सभीकी अधिष्ठात्री गाँवोकी धरती है। मनुष्य जबतक उस धरतीसे स्वाभाविक जीवनीशक्ति पा रहा था तबतक उसका विकास हो रहा था। अब उसका विकास अवरुद्ध हो गया है, केवल पूर्वयुगोकी साधनासे सञ्चालित कुछ परम्पराएँ शेष रह गयी है। प्राणोन्मेपके अभावमे परम्पराएँ ही नही, मनुष्य भी निष्प्राण होता जा रहा है, वह आधुनिक युगकी आर्थिक मृग-मरीचिकामे भटक रहा है।

आज समाज और संस्कृतिके सामने अभूतपूर्व संकट है। इस संकटसे त्राण पानेके लिए हमे कृषि-जीवनको सुस्थिर करना होगा, गाँवोको पुन: स्वावलम्बी बनाना होगा, मुद्रागत निर्जीव अर्थशास्त्रका स्थान किसी सजीव माध्यमको देना पड़ेगा।

मुद्रागत अर्थशास्त्र अब नगरोमे भी बहुत दिन नही चल सकता। मध्ययुगमें वह नगरोमें था, आधुनिक युगमें देहाततक फैल गया। शीघ्र ही उसे दोनो जगहोसे विदा लेनी पडेगी, यही मध्ययुगकी अपेक्षा नवीन ग्रामीण व्यवस्थाकी विशेपता होगी। गाँव नगरो द्वारा नहीं, बल्कि नगर गाँवो-द्वारा परिचालित होंगे। सच तो यह कि नगर भी देहात बन जायँगे। कालान्तरमे सारे संसारका भविष्य ऐसा ही है।

सम्भावित तीसरे महायुद्धके बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारमे भी मुद्राका महत्त्व नहीं रह जायगा। अकालजन्य परिस्थितियोके कारण सभी देशोकी मुद्रा-

नीतिमें अस्थिरता आ गयी है। जिन देशोकी मुद्रा-शक्ति अभी सन्तुलित जान पडती है उन देशोंके अर्थशास्त्रपर भी अकालग्रस्त देशोका अनिवार्य्य प्रभाव पडेगा।

वैज्ञानिक आविष्कारोके कारण लोगोको पुन. ग्रामीण जीवनकी ओर लौटना असम्भव जान पडता है, लेकिन तीसरे महायुद्धके वाद सारे वैज्ञानिक आडम्वर शरीरके प्रज्वरकी तरह शान्त हो जायंगे, दूसरे महायुद्धके वाद उनकी तेजी अपनी अन्तिम पराकाष्ठाकी ओर है ।

कुछ लोग अकालका कारण जमीनकी कमी और आवादीकी वढ़ती वतलाते है। वढी हुई आवादीकी माँग पूरी करनेके लिए वैज्ञानिक यन्त्रोसे उत्पादन वढानेपर जोर दिया जा रहा है। यह मनुष्यके वाद पृथ्वीका शोषण करनेका उपाय है। इससे पृथ्वीकी रही-सही शक्ति भी क्षीण हो जायगी। जिन देशोमे अभी थोडे दिनोसे वैज्ञानिक खेती हो रही है वहाँ इसका परिणाम कालान्तरमे प्रकट होगा।

आवादी जैसी वढी है वह तो पिछले नर-सहारसे ही स्पष्ट है। भारतमे विभाजनके कारण जमीनकी कमी हो सकती है। यदि सदुपयोग किया जा सके तो थोडी जमीन भी वहुतोको जिला सकती है। आवश्यकता है जीवनकी शैली वदलनेकी।

जवतक उपभोक्ता और उत्पादककी भिन्न श्रेणी वनी हुई है तवतक श्रेणि-हीन समाजकी कल्पना आकाश-कुसुम है। आज कल्याण इसीमें है कि प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक वने, चाहे वह किसी भी क्षेत्रमे क्यो न हो।

'धरातल'मे यत्र-तत्र जो आर्थिक असन्तोष है वह कृत्रिम नागरिक अर्थशास्त्र के प्रति है। 'धरातल' के विचार रचनात्मक है। ये विचार पूर्णरूपसे शान्ति-कालमे ही फलीभूत हो सकते है, तथापि संकट-कालमे भी ये जीवन-सञ्चार कर सकते है। यदि अभीसे हम गान्धीजीके रचनात्मक कार्योंकी ओर अग्रसर रहेगे तो भविष्यमे निराधार नही हो जायँगे ।

'धरातल' ऐसे समयमे प्रकाशित हो रहा है जव पृथ्वीपर चारो ओर मद, वैभव और सत्ताके लिए सघर्ष हो रहा है। थोड़ेसे कूटनीतिज्ञोंकी महत्त्वाकाक्षा के लिए समष्टिका वलिदान हो रहा है। कविके शब्दोमे यही शुभकामना है—

"हो शान्त जाति विद्वेष, वर्गगत रक्त समर,
हो शान्त युगोंके प्रेत, मुक्त मानव अन्तर।
संस्कृत हो सब जन, स्नेही हो, सहृदय, सुन्दर,
संयुक्त कर्मपर हो संयुक्त विश्व निर्भर।
राष्ट्रोंसे राष्ट्र मिले, देशोंसे देश आज,
मानवसे मानव,—हो जीवन निर्म्माण काज।

... ...

हो धरणि जनोंकी, जगत स्वर्ग,—जीवनका घर,
नव मानवको दो, प्रभु! भव मानवताका वर!"

... .

पुस्तकके लेखन-कालमें जिन मित्रोंका स्नेह-सहयोग मिला है उनके प्रति लेखक कृतज्ञ है।

'वीणा'के बादसे मेरा साहित्यिक जीवन मुख्यत भाई विश्वनाथ मोर (कलकत्ता) की आत्मीयतासे सामाजिक सम्बल पाता आया है। उनका सौजन्य धन्यवादके परे है।

काशीके होनहार श्रमजीवी छात्र श्रीकृष्ण दवेने आवश्यकतानुसार मेरी पुस्तककी प्रतिलिपि की है।

आवरण-पृष्ठ का चित्र भाई अम्बिकाप्रसाद दुबेजीने अंकित किया है।

सहृदयताके लिए सबको साधुवाद।

लोलार्ककुण्ड,
काशी

—लेखक

२०।११।४८

प्रवचन

[१]

मेरे प्रभु के सहस्त्रों रूप हैं

मेरे प्रभुके सहस्त्रो रूप हैं। कभी मैं उसका दर्शन चर्खेमें करता हूँ, तो कभी साम्प्रदायिक ऐक्यमे और कभी अस्पृश्यता-निवारणमे। और इस तरह जब मुझे भावना जहाँ खींच ले जाती है उसके अनुसार मैं अपने प्रभुको देखता हूँ और उसके साथ सान्निध्य स्थापित कर लेता हूँ।

"जियो और जीने दो"—या पारस्परिक क्षमा और सहिष्णुता जीवनका नियम है। यही शिक्षा है जो मैंने कुरानसे पायी है, बाइबिलसे पायी है जिन्दावस्ता से पायी है और गीतासे पायी है।

मैं जो रोज बोलता हूँ, बहस करता हूँ, वह भी प्रार्थना ही है। उसीका हिस्सा भगवानके लिए है।

मेरा विश्व मेरे आस-पासका वातावरण है, अगर मैं अपने आस-पासके लोगोकी सेवा करता हूँ तो विश्व अपनी सँभाल खुद कर लेगा।

मैं अहिंसाका कलाकार हूँ, ऐसा मेरा दावा है। मैं जन्मसे ही लडाका और जिन्दगीभर बागी रहा हूँ, किसी भी किस्मकी बेइज्जतीके सामने झुकनेवाला दुनियामे मैं आखरी शख्स होऊँगा।

मै भविष्यवेत्ता नही और न मेरे दिव्यचक्षु हे, मेरे हाथ, पाँव, कान, आँख हैं।

करोडोका जीवन ही हर हालतमे मेरी राजनीति है।

मेरा रहनुमा और मेरा हकीम एकमात्र ईश्वर है।

इन देहातियोकी सेवा द्वारा मैं अपने आपको पाना (आत्मसाक्षात्कार करना) चाहता हूँ। मनुष्यका अन्तिम उद्देश्य है—ईश्वरका साक्षात्कार और उसकी अनुभूति प्राप्त करना। उसके राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी काम इस अन्तिम

उद्देश्य (ईश्वरानुभूति) को ध्यानमे रखकर ही सम्पादित होने चाहिये। इसलिए मानव जातिकी निकटतम सेवा इस प्रयत्नका एक अनिवार्य भाग है, क्योकि ईश्वरको पानेका एकमात्र उपाय है उसकी बनायी सृष्टिमे परमात्माका दर्शन करना और उससे तादात्म्य प्राप्त कर लेना। यह तो सबकी सेवा द्वारा ही हो सकता है।

जो झोपडीमे काव्य, चर्खेमे सगीत और आत्मामे ईश्वरीय सन्देश सुनता है वही सच्चा कलाकार है।

—गान्धीजी

[२]

ग्रामीण व्यवस्था ही श्रेयस्कर

हमे केवल उत्पादन पर ही ध्यान देना नही है प्रत्युत् उसकी नैतिकताका भी ख्याल करना होगा।

व्यावसायीकरणके लिए चिल्लाना व्यर्थ है। यह हमे केवल धनोपार्जनकी ओर ही ले जाता है, जिसके परिणामस्वरूप अन्न उपजानेवाली भूमिमे पैसे उपजने लग जाते है और साधारण जनता भूखसे तड़पने लगती है। उनके शरीर वस्त्रहीन हो जाते है। स्वतन्त्र हिन्दके लिए ऐसी आर्थिक योजनाकी मै कोई आवश्यकता नही समझता।

आप यूरोपके उन देशोकी ओर तनिक दृष्टिपात करे जहाँ व्यावसायीकरणकी योजनाएँ कार्यान्वित की गयी है। आज जर्मनी कहाँ है? ब्रिटेनके व्यवसायी भव्य नगरोकी आज क्या स्थिति है? अपनी व्यावसायिक उन्नतिपर घमंड करवाले ये देश आज अमेरिकाकी भिक्षापर आश्रित है। रूसकी तीस वर्षीय आर्थिक योजनाओका क्या फल निकला जब कि सोवियट जनताको शरीर ढँकने के लिए आवश्यक वस्त्र और उचित भोजन भी भली भाँति नही मिल पाता। रूसकी जनता फटे वस्त्र और फटे जूते पहनकर नगरोके राजमार्गपर चलती हुई दिखलायी पड़ती है। आर्थिक योजनाओके सम्बन्धमे सरकारकी नीति वर्त्तमान जैसी ही बनी रही तो इसके भाग्यका निर्णय भी यूरोपके देशोकी तरह ही होगा। व्यवसायोके केन्द्रीकरणसे वस्तुत. हमारे देशका राष्ट्रीयकरण सम्भव नहीं है। व्या-

वसायीकरण हमें अधिनायकवादकी ओर ले जाता है। तथाकथित पश्चिमीय लोकतन्त्रवादका पर्दा इतना झीना और कमजोर है कि तनिक भार पडते ही वह विदीर्ण हो जाता है, एक निश्चित व्यवस्थाकी भली भाँति स्थापना हो भी नहीं पाती है कि उसमे शीघ्र ही उलटफेरकी आवश्यकता आ पडती है। फलत युद्ध आरम्भ हो जाता है। यदि हिन्द वस्तुत. सच्चे लोकतंत्र की स्थापना चाहता है तो उसे आर्थिक विकेन्द्रीकरण तथा ग्राम प्रजातन्त्रको ही आधार वनाना पडेगा।

धनके उत्पादनके लिए जो आर्थिक कार्यक्रम है उनका हमें विलकुल अन्त नही कर देना है किन्तु ध्यान इस वातका रखना है कि इस प्रकारकी योजनाएँ हमारे ऊपर आधिपत्य न जमा ले। ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था ही देशभरकी आर्थिक व्यवस्थाका आधार होनी चाहिये।

—जे० सी० कुमारप्पा

[२]

गाँवोंको स्वावलम्वी वनाओ

आज किसानोंके दो ईश्वर हो गये है। आजतक एक ही ईश्वर था। किसान आकाशकी तरफ देखता था, पानी वरसानेवाले ईश्वरकी तरफ देखता था। लेकिन आज चीजोंके भाव ठहरानेवाले देवताकी तरफ भी देखना पडता है, इसीको आसमानी सुलतान कहते है। आसमान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूव फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओंको (एक आकाशका और दूसरा अमेरिकाका) किसानको पूजना पड़ता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नही आयेंगे। गान्धीजी कहते है, ऊपरवाले ईश्वरको वनाये रक्खो और दूसरे देवताको छोडो। एक ईश्वर वस है।

हमारे गाँवोंकी सारी लक्ष्मी यहाँसे उठकर शहरोंमें चली जाती है, अपने पीहरसे चल वसती है। इस ग्रामलक्ष्मीके पैर गाँवमे नहीं ठहरते, वह शहरकी तरफ दौड़ती है। पहाडपर पानी भरपूर वरसता है, लेकिन वह वहाँ कव ठहरता है? वह चारो तरफ भाग निकलता है। पहाड वेचारा कोराका कोरा, नंग-धडग, गजा-वूचा, खडाका खड़ा रह जाता है। देहातकी लक्ष्मी इसी तरह चारो दिशा-

ओमें भाग खडी होती है, शहरोकी तरफ वेतहाशा दौडती है। अगर हम उसे रोक सके तो हमारे गाँव सुखी होगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौनसे रास्तोमे भागती है सो देखो। उन रास्तोको वन्द कर दो, तव वह रुकी रहेगी। उसके भागनेका पहला रास्ता वाजार है, दूसरा शादी-व्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पाँचवाँ व्यसन। इन पाँचों रास्तोको वन्द करना शुरू करे।

वाजारमे क्यों जाना पड़ता है? जिन चीजोकी जरूरत है उन्हे भरसक गाँवमे ही वनानेकी कोशिश करो। स्वराज्य याने स्वदेशका राज्य, अपने गाँवका राज्य। घर जानेपर तुम लोग सोचो कि अपने गाँवमे क्या-क्या वना सकते हो!

गाँवका ही अनाज, गाँवका ही कपड़ा, गाँवका ही गुड, गाँवका ही तेल, गाँवके ही जूते, गाँवकी ही डोर, गाँवके ही वैल, गाँवका ही घरका पिसा आटा, इस रवैयेको अपनाओ। फिर देखो तुम्हारे गाँव कैसे लहलहाते है! तुम कहोगे, यह सौदा महँगा पडेगा, यह केवल कल्पना है। मै एक उदाहरणसे समझाता हूँ—मान लो, तुम्हारे गाँवमे एक रँगरेज है, एक वुनकर है, एक तेली है, एक चमार है। आज चमार क्या कहता है? वह कहता है, 'मै तेलीसे तेल नही लूँगा, वह महँगा पडता है।' तेली क्या कहता है?—'गाँवके चमारका वनाया हुआ जूता महँगा पडता है, मैं शहरसे जूता खरीदूँगा।' वुनकर क्या कहता है?—'मै गाँवका सूत नही खरीदूँगा, मिलका लूँगा, वह सस्ता होता है।' इस तरह आज हमने एक दूसरेको मारनेका धन्धा शुरू किया है! एक दूसरेको निवाह लेना धर्म है, उसे छोड़कर हम एक दूसरेको मटियामेट कर रहे है।

जरा मजा देखिये, तेली चार आना ज्यादा देकर चमारसे महँगा जूता खरीदता है। उसकी जेवसे आज चार आने गये। आगे चलकर वह चमार तेलीसे चार आने ज्यादा देकर महँगा तेल खरीदता है, याने उसके चार आने लौट आते है, अर्थात महगा नही पडता। जहाँ पारस्परिक व्यवहार होता है, वहाँ 'महँगा' जैसा कोई शब्द ही नही है। गये हुए पैसे दूसरे रास्तेसे लौट आते है। मै उसकी महँगी चीज खरीदता हूँ, वह मेरी महँगी चीज खरीदता है, हिसाव वरावर। इसमे क्या विगडता है? जुलाहे ने खादी वनायी और तेलीने वह खरीद ली।

तेलीके लिए खादी महँगी है, जुलाहेके लिए तेल महँगा है, बात एक ही है। तेलमें जो पैसे गये वे खादीमें वापस मिले और खादीमे गये सो तेलमें मिल गये। 'इस हाथ देना उस हाथ लेना'—इस तरहका भाई-चारेका सहयोग-व्यवहार होता था। लेकिन वह आज लुप्त हो गया है।

देहातमे प्रेम होता है, भाई-चारा होता है। देहातके लोग अगर एक दूसरेकी जरूरतोका ख्याल नही रखेंगे तो वह देहात ही नही है, वह तो शहरके जैसा हो जायगा। शहरमे कोई किसी को नही पूछता। सभी अपने-अपने मतलवके लिए वहाँ इकट्ठे होते हैं, जैसे गोवरका ढेर देखकर सैकडो कीडे जमा होते हैं। उस सडनेवाले गोवरमे सैकडो कीडे कुलवुलाते हैं। वे कीडे वहाँ क्यो इकट्ठे हुए? किसी कीडेसे पूछो, यहाँ क्यो आया? तेरे कोई भाई-वहिन यहाँ है? वह कीडा कहेगा, 'मै गोवर खानेके लिए यहाँ आया हूँ और गोवर खानेमे चूर हूँ, मुझे ज्यादा वोलनेकी फुरसत नही है।' कलाकन्द, गुड आदिपर मक्खियाँ वैठती हैं, सो क्या प्रेमके कारण? उसी तरह शहरोमे मक्खियोके समान जो आदमी भिनभिनाते रहते है, चीटियोकी नाई जिनका ताँता लगा रहता है, वह क्या प्रेमके लिए? शहरमें स्वार्थ और लोभ है, गाँव प्रेमसे वनता है। गाँवमे आग लग जाय तो सव लोग अपना-अपना काम छोडकर दौड आयेंगे, घरमे कोई वैठा थोड़े ही रहेगा! लेकिन वम्वईमें क्या दशा होगी? सव कोई कहेंगे, 'पानीका वम्वा जायगा, मुझे अपना काम है।' इसीलिए एक कविने कहा है—'गाँवोको ईश्वर वनाता है और शहरोको शैतान।'

शहरमे कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहातमे वनी है?—हाथकी वनी हुई है? पहले उन चीजोको पसन्द करो। जहाँतक हो सके यन्त्रोमे वना हुआ शहरका माल निषिद्ध ही मानो।

हमें देहातोको हरा-भरा गोकुल वनाना है—स्वाश्रयी, स्वावलम्वी, आरोग्य-सम्पन्न, उद्योगशील, प्रेमल। ईखका कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेलका कोल्हू चूँ-चरँ वोल रहा है, कुएपर मोट चल रही है, चमार जूता वना रहा है, गोपाल गायें चरा रहा है और वशी वजा रहा है! ऐसा गाँव वनने दो।

समृद्धिका साधन : श्रम

भक्तिमार्गी भजन करते हैं, ध्यानयोगी ध्यानमे रमते है, ज्ञानी चिन्तनमे मस्त हैं, पर ये सब ऐसा नही सोचते कि चूँकि हमे रोज कुछ न कुछ खानेको चाहिये तो कुछ पैदायगका काम भी कर ले, ताकि एक ही कामसे चित्त-शुद्धि भी हो, भक्ति भी सधे और श्रमिकोका वोझ भी कुछ कम हो। हमारे पुराने सभी सन्त काम भी करते थे और भक्ति भी करते थे। रामदेव सिलाई करते थे, कवीर वुनते थे, दादू धुनते थे। मुँहमे राम और हाथमे परिश्रमका काम होना चाहिये।

मनुने कहा था, 'सदा शुची कार हस्त' यानी काम करनेवालेके हाथ निरन्तर पवित्र होते है। किन्तु हम यह वीज भूल गये। हर कोई काम छोडने लगा। जो काम करनेवाले रह गये उनका वोझ वढ गया। अगर हमे स्वराज्यको सम्पन्न वनाना है तो श्रमकी प्रतिष्ठा वढानी चाहिये। वढई, प्रोफेसर और न्यायाधीशके वेतनके भेद मिटाने होगे।

आप निश्चय कीजिये कि विना कुछ निर्म्माणका काम किये खायेगे नही। ऐसा करेंगे तो आप देखेंगे कि भारतकी धरतीपर स्वर्ग उतर आयेगा और स्वराज्य समृद्ध होगा।

—विनोवा भावे

[४]

सांस्कृतिक सञ्चरणकी आवश्यकता

इस युगमे जिस प्रकार राजनीतिक, आर्थिक आन्दोलन लोकजीवनकी आवश्यकताओकी पूर्ति कर रहे है क्या हमे उसी तरह एक सास्कृतिक आन्दोलन भी चाहिये जो हमारे युगकी समस्याओका समाधान करनेमें सहायक हो ?

शायद 'आन्दोलन' शब्द हमारे अभिप्रायको प्रकट करनेके लिए अधिक उपयुक्त नहीं, वह आज सघर्षपूर्ण वातावरणमें अधिक आन्दोलित लगता है। हमे कहना चाहिये 'सञ्चरण'—सास्कृतिक सञ्चरण, जिससे सृजन और निर्माण

की ध्वनि अधिक स्पष्ट होकर निकलती है। बाहरी दृष्टिसे देखनेपर ऐसा जान पडता है कि सास्कृतिक आन्दोलनके रूपमें हम लोग किसी प्रकारका बौद्धिक व्यायाम करना चाहते है, पर ऐसा नही है। हमे सस्कृति-जैसी महत्त्व-पूर्ण वस्तुको (जिसका सम्बन्ध मनुष्यके अन्तरतम विश्वासो, श्रद्धाओ, आदर्शो तथा सत्य-शिव और सुन्दरके सिद्धान्तोसे है)—केवल मन या बुद्धिके धरातलपर ही नही परखना चाहिये। उसका सम्बन्ध मनुष्यकी अन्तर्चेतनासे, उसकी गम्भीरतम अनुभूतियो, उसके अन्तर्मनके सहज बोध तथा रहस्य-प्रेरणाओसे भी है। हम मनुष्यके मन और बुद्धिकी सीमाओसे अच्छी तरह परिचित है।

मेरे विचारमे किसी भी सास्कृतिक आन्दोलन या सास्कृतिक सस्थाका यह उद्देश्य होना चाहिये कि वह मनुष्यकी सृजनशील प्रवृत्तिको उसकी बुद्धिके ऊपर स्थान दे और उसे मनुष्यहृदयमे जाग्रत कर उसके विकासके लिए उपयुक्त साधन और वातावरण प्रस्तुत करे। जहाँ मनुष्य स्वय स्रष्टा बन जाता है वहाँ उसका अन्तरतम चेतन-व्यक्तित्व सक्रिय हो जाता है—उसे सौन्दर्य, आनन्द और तृप्तिका अनुभव होने लगता है, जीवनका अन्धकार और मनका कुहासा छिन्न-भिन्न होने लगता है।

हमारा युग विज्ञानका युग कहलाता है, जिसका अर्थ है—भूतविज्ञानका युग। वैसे विज्ञान शब्द मनोविज्ञान, अन्तर्विज्ञान, आत्मविज्ञान जैसे सूक्ष्म दर्शन-विषयोके लिए भी प्रयुक्त होता है। लेकिन इस युगमे हमने विज्ञान-द्वारा चेतनाके निम्नतम धरातलपर ही—(जिसे पदार्थ या भूत कहते हैं)— अधिक प्रकाश डाला है और भाप, बिजली जैसी अनेक भौतिक रासायनिक शक्तियोपर अपना अधिकार जमा लिया है। जीवनकी इन सबल बाह्य गतियोका नये ढगसे सगठन करनेके लिए आज ससारमें नवीन रूपसे राजनीतिक आर्थिक आन्दोलनोका प्रादुर्भाव, लोकशक्तियोका सघर्ष, तथा, महायुद्धोका हाहाकार बढ रहा है। हमे तीसरे विश्व-युद्धकी अस्पष्ट गर्जन अभीसे सुनाई देने लगी है, जो सम्भवत अणुयुद्ध होगा।

ऐसी अवस्थामे हम अनुभव करते है कि मानव जातिको इस महानाशसे बचानेके लिए हमें आज मनुष्य-चेतनाके ऊपरी स्तरोको भी जाग्रत तथा सक्रिय

बनाना चाहिये, जिससे आजकी विश्व-परिस्थितियोमे संतुलन पैदा किया जा सके; और लोकजीवनके इस वहिर्गत प्रवाहके लिए एक अन्तर्मुख स्रोत भी खोल दिया जाय जिससे जीवनकी मान्यताओके प्रति उसका दृष्टिकोण और व्यापक वन सके।

—सुमित्रानन्दन पन्त

[५]

भू-वन्दना

(अथर्व वेद पृथिवी सूक्तसे)

आश्रित जिसपर सभी सरित सर सागरके जल,
लहराता है जहाँ शस्यका शोभन अञ्चल,
जिसपर है चल प्राणि-जगत जीवित औ' स्पन्दित,
वही धरा दे हमे पूर्वजोका श्रेयस नित !

सृष्टि पूर्व जो रही सिन्धुमे जलमय तन से,
ऋपियोने की प्राप्त सिद्धिके अक्षय धन से;
परमव्योम वह अमर सत्य-तेजस-आच्छादित,
जिसका उर है, वही धरा दे शक्ति, अपरिमित !

शोभित जिसपर अचल-हिमाचल-वन सुपमाकर,
अक्षय अमर अजेय खड़े हम उस वसुधा पर,
श्यामल गैरिक अखिल रूपमय, मघवा-रक्षित,
उसी भूमिपर रहे सदा हम सुखसे विचरित !

जिसके उर पर विविध वनस्पतियाँ औ' तरुवर,
पाते ही रहते विकास ध्रुव और निरन्तर,
धरा हुई जो धारण करके यह जग सारा,
उसका वन्दन आज कर रहा गान हमारा !

तेरे पावस औ' निदाघ तेरे मधु-पतझर,
तुझपर रहती, शरद शिशिर सब ऋतुएँ निर्भर,
तुझमे होते सदा दिवस औ' रजनी निर्मित,
ओ पृथिवी ! यह रहे हमारे ही सुखके हित !

जो तुझमे उत्पन्न शक्ति औ' बल का आकर,
हमें उसी के मध्य प्रतिष्ठित कर दे सत्वर,
पूत हमे कर, धरापुत्र हम तुझसे लालित,
रसदायक पर्जन्य पितासे भी हो पालित !

तेरा जो शुभ गन्ध मिला ओपधि जलकण में,
अप्सरियाँ गन्धर्व जिसे रखते निज तन में,
उस सौरभ से गात हमारा तू सुरभित कर,
पड़े किसीकी द्वेप-दृष्टि ओ जननि न हमपर !

हम सबके हित महत सदन बनकर तू रहती,
महत वेग, सञ्चलन महत, कम्पन भी महती,
रहे महत निस्तन्द्र इन्द्र-छायामें ऐसी,
स्वर्णवरा तू ! पर न हमे देना विद्वेपी !

भू ही तो पापाण शिला औ' धूलिपटल मे,
थामे सबको वही अक अपने निश्चलमे !
तेरा उर है हमे राशि सोनेकी अभिमत,
देते हं हे भूमि ! तुझे हम आज नमन शत !

—अनु० महादेवी वर्मा

निर्देशिका

विषय	पृष्ठ
जीवन-दर्शन	१–१४
संवेदनशीलता, स्वाभाविकता और कृत्रिमता, प्रकृति और संस्कृति, मनोविज्ञान, 'शरीरमाद्यम् खलु धर्म्म साधनम्', दिन-चर्य्या, युक्ताहार-विहार, चरित्रका अध्ययन, आकृति-विज्ञान, समस्या, वर्त्तमान कथा-साहित्य।	
रोटी और सेक्स	१५–१८
मनुष्य और यन्त्र	१९–२२
साइकिल रिक्शा और एक्का	२३–२४
किसान और मजदूर	२५–२७
नैतिक हिंसा	२८–३६
व्यापारिक प्रवृत्तिकी प्रधानता, निर्म्माणकी दिशा, भाषा और रहन सहन, राजनीतिक दासता या सामाजिक पतन, मादकताका मनोविज्ञान, साधन और साध्य, सरकारोंकी गति-विधि।	
तीसरे महायुद्धके बाद	३७–४०
प्रत्यावर्त्तन : श्रम-धर्म्मकी ओर	४१–४७
भारतीय अर्थशास्त्र, आदान-प्रदान और उसका माध्यम, सांस्कृतिक दृष्टि।	

टाल्स्टायकी श्रम-साधना ४८–५५

आत्मप्रयोग, कृत्रिमता, श्रेणिसंघर्ष, श्रम-विभाग, टाल्स्टायके बाद, आश्रम ।

साहित्यिक संस्थाओंका गन्तव्य ५६–६०

रचनात्मक क्षेत्र ।

जन-संस्कारिता ६१–७१

मनोभूमिका परिष्कार, समाज-शिक्षा, संस्कारिता या नागरिकता ?, मौलिक शिक्षा, अन्तश्चेतनाकी साधना, राष्ट्रीय स्थिति, छोटी-छोटी बातोंका महत्त्व, सार्वजनिक जीवन, धार्मिक विवेक, कलाका दायित्त्व, सौन्दर्य-बोध, रसात्मक प्रेरणा ।

भाषा ७२–८०

जन्म और विकास, सामञ्जस्य, राजनीति और समाज, प्रतिक्रिया, केन्द्रित विकेन्द्रीकरण, जन-स्वावलम्बन, अन्तःशुद्धि, विरोधाभास, स्रष्टा और सृष्टि, जनभाषा, सरस साधना ।

साम्प्रदायिकता ८१–९७

धर्म्मयुद्ध, राजनीतिक फूट, शुद्धीकरण, साधना या वासना ?, विश्वराज्य, आन्तरिक आधार, सांस्कृतिक चेतना, स्वार्थोंकी माया, प्रतिगामियोंका प्रयास, जनशक्ति, प्रायश्चित्तका अवसर, जनताकी माँग, सम्प्रदाय और राजनीति, धर्म्मका ह्रास, अस्पृश्यता, गोरक्षा, सौम्यमार्ग ।

तुलसीदासका सामाजिक आदर्श ९८–१०७

समाजके मूलाधार, वर्णाश्रम, श्रम : धर्म्म, प्रतिस्पर्द्धा, नारीका व्यक्तित्व, युग-विकृति, रामराज्य ।

सूरदासकी काव्य-साधना १०८–११५

प्रकृति-पुरुष, केन्द्रबिन्दु : ग्रामीण जीवन, भ्रमर-गीत, भाव-पूजा, रस और कला ।

गाँवोंकी सांस्कृतिक रचना ११६–१२३

नैसर्गिक विशेषता, स्वाभाविक साधन, संगीत-मधुर श्रम, शिक्षा, संस्कृति और कला ।

सन् '४२ के बादकी भूल १२४–१३१

अगस्त-आन्दोलनका नेतृत्व, युद्धके बाद, विपर्य्यय, योगायोग ।

गान्धीजीका बलिदान १३१–१४०

गान्धीजीका दृष्टिकोण, श्मशान-वैराग्य, चिरविश्राम, स्वराज्य : स्वाभाविक राज्य, पुनश्च ।

वन्देमातरम् १४१–१४७

शुद्धि पत्र

कृपया पुस्तक पढ़नेके पहिले अपनी प्रति नीचे लिखे अनुसार शुद्ध कर लीजिये। लेखोंमें जो उपशीर्षक हैं उन्हें भी पंक्तियोंमें गिनिये।

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित
६	८	वत्तियॉ	वृत्तियाँ
११	१३	सफलता	सफल
१७	१५	दीभत्स	वीभत्स
१८	७	मक्त हैं	मुक्त हैं
१८	१३	ैठा	पैठा
३३	२२	जाव	जावें
३४	१५	गण	गुण
३४	२७	शभ	शुभ
३८	२०	मु ा	मुद्रा
३८	२४	ैसा	पैसा
४०	१	तरसग	तरसेंगे
४०	१	पण्यश्लोक	पुण्यश्लोक
४६	२८	पूॅजीकरण	पुञ्जीकरण
४९	४	दौद्धिक	बौद्धिक
४९	२२	सन्न	प्रसन्न
५०	१६	श्रणिसंघष	श्रेणीसंघर्ष
५०	२४	रचगी	रचेंगी
५४	१५	पूँजीभूत	पुञ्जीभूत
५४	२३	कृषि	कृषी
७०	१९	यक्ति	व्यक्ति
१४५	८	वर्गयुक्त	वर्गमुक्त

मात्राएँ टूटने या किसी अन्य कारणसे और जो अशुद्धि रह गयी हो उसे पाठक गण अपनी सुविज्ञतासे ठीक कर लें।

धरातल

जीवन-दर्शन

कविता और कहानी—मानव-जीवनके रसात्मक इतिहास हैं। इन दोनोंके द्वारा मनुष्यके मानसिक विकासका परिचय मिलता है, और उस विकासके अनुरूप उसके जीवनका दर्शन भी। मन और जीवनका अभिव्यंजन ही तो इतिहास बन जाता है। आजके स्थूलरूपमें प्रचलित इतिहासोंकी अपेक्षा कविता और कहानी-द्वारा प्राप्त जीवन-दर्शन अधिक अन्तरंग एवं विश्वसनीय जान पड़ता है। इनके द्वारा मानव-समुदायकी उस हार्दिक रुचि और जीवन-प्रणालीका प्रत्यक्षीकरण होता है जिससे संस्कृति और सामाजिक स्थिति बनती है। साहित्यकी अपेक्षा स्थूल इतिहासमें हम जिस इतिहासको देखते हैं वह इतिहास नहीं बल्कि घटनाओं और कार्योंकी विवृति मात्र है; संस्थाओंके वार्षिक विवरणकी तरह उसमें निर्जीव इतिवृत्त है, सजीव चित्तवृत्ति नहीं।

संवेदनशीलता

मनुष्य जब आजकी तरह वैयक्तिक प्राणी नहीं बन गया था, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति अपनेमें पूर्ण समाज था, तब उसने अपने समग्र जीवनको कविता और कहानीमें ही अंकित किया था। आजकी तरह उसने अलग-अलग अपने जीवनकी डायरी नहीं लिखी। बिन्दु-बिन्दुमें सिन्धुकी तरह व्याप्त सभी व्यक्तियोंकी जीवन-प्रणाली और संवेदनशीलता एक थी, अतएव, एककी कविता और कहानीमें समग्र समाजकी अनुभूति स्पन्दित रहती थी। सभी देशोंकी धार्मिक कथाओंमें ऐसा ही सामूहिक जीवन-दर्शन मिलता है। इन कथाओंमें व्यक्तिवाद नहीं, बल्कि समष्टि-वाद है। सचराचरकी एकप्राणता ही समाजकी समष्टिमें संघटित है। इस वैज्ञा-निक युगमें जब कि मनुष्य अनीश्वरवादी होता जा रहा है, धार्मिक युगके अद्वैतका स्थान समाजवाद ले रहा है। नाम बदल जानेपर भी सामूहिकताकी मूल प्रवृत्ति वही है जो धार्मिक युगमें थी। अन्तर यह है कि पहिले जो सार्वजनिक चेतना धर्मकी धुरीपर केन्द्रित थी, वह अब अर्थ-चक्रपर घूम रही है। धर्मने अर्थपर जाकर जीवन राजनीति-प्रधान हो गया है। राजनीति-प्रधान जीवनमें हम समाजवादी हो ही नहीं सकते, क्योंकि यहां पग-पगपर अविश्वास और अधिकारका ही तुमुल संघर्ष है। राजनीतिका प्रचण्ड शस्त्र अर्थशास्त्र मनुष्यको उद्योगी तो बनाता है किन्तु

संवेदनशील नही वना पाता। सच्चा इन्कलाव तो तभी होगा जब मनुष्यकी एकाग्रता फिर किसी आन्तरिक ध्येयपर केन्द्रित होगी। धर्म्म ही आन्तरिक ध्येय है। आजकी विषमताका कारण अधर्म्म, किंवा लोभ और स्वार्थ है। इन तामसिक प्रवृत्तियोमे मनुष्यकी वहिर्मुखी वर्वरता है। धर्म्मद्वारा ही मनुष्य अन्तर्मुखप्राणी वन सकता है। अन्तर्मुख प्राणी ही वह सवेदनशीलता पा सकेगा जिससे कविता और कहानीकी सृष्टि होती है।

स्वाभाविकता और कृत्रिमता

कविता और कहानीकी उपज पृथ्वीकी उसी स्वाभाविक मिट्टीके भीतरसे हुई है जहासे वनस्पतियोकी तरह ही मानव-सन्ततियां भी उगी है। धूलमे ही हँस-खेलकर पनपनेवाले वच्चो जैसी सरल, निश्छल, भोलीभाली जनताने ही प्रकृतिके स्वर और सौन्दर्यमें अपने जीवनका समावेश कर कविता और कहानीकी रचना की। आज उस सूधे मन और सूधे जीवन द्वारा रची कविताओ और कहानियोंको हम लोकगीत और दन्तकथा कहते हैं। उन रचनाओमे मिट्टीका स्वाभाविक सोंधापन है। नगरोमे आकर जैसे वन्यसरिता और ग्राम्यधान्यका रूपान्तर हो गया वैसे ही पठित समाजके हाथमे जाकर उन ठेठ रचनाओका भी कलेवर वदल गया।

युगोके परिवर्तनके साथ-साथ आज हमारी अभिव्यक्तियोमे भी वहुत परिवर्तन हो गया है। आज हम देखते हैं, धरतीकी स्वाभाविक मिट्टी कोलतारकी सड़कोके नीचे छिप गयी है। ऊपर सड़कोपर कूड़ा-कचरा, थूक-खखार, मलमूत्र फैला हुआ है; नीचे सडकके अन्तरालमे पाखानेकी मोरिया वह रही हैं। कही एक कण भी शुद्ध रजकण नही मिलता। वड़े-वडे शहरोमे घर लीपने-पोतनेके लिए शुद्ध मिट्टी भी खरीदनी पड़ती है। ऐसा हो गया है प्रकृतिसे विच्छिन्न मनुष्यका विकृत जीवन, और ऐसे जीवनका साहित्य भी उसीके समान कृत्रिम हो गया है।

प्रकृति और संस्कृति

मनुष्यने जव प्रकृतिकी अजस्रताको अपने जीवनमे अमृत वना लेना चाहा तव जड शरीरसे अपनी चेतनाको सयुक्त कर उसने संस्कृतिका प्रादुर्भाव किया। सस्कृति मनुष्यके दैनंदिन जीवनको सयत और सुसगत वनाती है। वह प्रकृतिके साहचर्य्यमे प्राण और कायाको अन्विति देती है।

सस्कृतिका स्थान केवल पूजा-पाठ या मन्दिरोमे नही है, वह हमारे प्रत्येक श्वास, प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पगके साथ है। सनातन परम्परामे हमारी सम्पूर्ण

दिनचर्य्या ही संस्कृतिसे सुश्रृंखलित है। प्रात. जागरणसे लेकर रात्रि-शयन-पर्य्यन्त हमारी दिनचर्य्या धार्मिक विधानोंसे बँधी हुई है। धर्म्म अर्थात् शरीर और आत्माको शुद्ध स्वस्थ बनाये रखनेके लिए जो कर्त्तव्य अनिवार्य है वही है धर्म्म।

धर्म्मका पालन प्रकृतिसे अभिन्न होकर ही किया जा सकता है। प्रकृति हमे उद्योगी भी बनाती है और संवेदनशील भी। पथारोहीके साथ-साथ नदीकी धाराकी तरह प्रकृति हमारे जीवनके साथ है। जो लोग केवल कामकाजी अथवा सैलानी है उनकी दिनचर्य्यामे प्रकृतिके साहचर्य्य और सहयोगको कोई स्थान नही है। ऐसे लोग स्टीमरपर सवार होकर नदीके उस पार उतरकर जब घर पहुँचेगे तब बिजलीके पङ्खेके नीचे सुस्तायेगे या हाथ-मुँह धोनेके लिए गुसलखानेमें घुस जायँगे। मनुष्यके आराम-तलब आलसी स्वभावमे जो म्लेच्छता आ गयी है उसके कारण वह जीवनकी सस्ती सुविधाओंका गुलाम हो गया है। सुविधाओंके लिए आविष्कृत कृत्रिम साधनोंके भारसे दबकर मनुष्यका दम घुटता जा रहा है।

मनुष्यकी दिनचर्य्यामे अपना अमृत सहयोग देनेके लिए प्रकृति उससे साधना चाहती है। यह साधना तन-मन दोनोंकी है। स्नान और सन्ध्याकी तरह ही तन-मनकी साधना जुड़ी हुई है। हमारे प्रत्येक नित्यकृत्यमे अन्तर्बाह्य शौचकी साधना है। यह साधना ही हमे अमानुष होनेसे बचाती है।

इस आर्थिक युगमें जब कि प्रत्येक मनुष्यकी दौड पैसेकी ओर है, जब कि अन्तर्बाह्य मलिनतासे सभीकी बुद्धि म्लेच्छ हो गयी है. ऐसे युगमे प्रकृति संस्कृति एवं साधनाका स्वर बहुत पीछे छूटता जा रहा है। मिलो. फैक्टरियो. चिमनियोंके इस धुआधार युगमे जैसे प्रकृतिको स्थान नही है वैसे ही संस्कृतिको भी।

मनोविज्ञान

कहते है, यह वैज्ञानिक युग है। इस युगका साहित्यमे भी आधिपत्य है, इसलिए कथा-साहित्यमें इन दिनो मनोविज्ञानकी बाते बहुत सुननेमे आ रही है। अंग्रेजी पढना जैसे किसी समय एक फैशन था वैसे ही आज मनोविज्ञानकी बाते करना भी शौक बन गया है। जिनके पास उधार लिया हुआ ज्ञान अधिक है वे ही मनोविज्ञानकी बाते बहुत करते है।

इन दिनो कथा-साहित्यमे मनोवैज्ञानिक विचारका आधार अन्तर्मन-बहिर्मनका द्वन्द्व है। वस्तुत: क्या मन दो है? नही मन तो एक ही है। शरीरकी विभिन्न स्थितियोंके अनुसार मनकी गतिया अनेक है, मन अनेक नही।

जिसे हम अवचेतन मन या अन्तर्मन कहते है वही दिवसके कार्य्यव्यग्र

क्षणोंमें कर्त्ता रहता है, फिर स्वप्नमें या जाग्रत दिवसके अवकाशमें अपने कार्य्योंका द्रष्टा अथवा तटस्थ निरीक्षक भी बन जाता है। इस मनके सामने ही व्यक्तजगत् सुषुप्तिमें स्वप्नजगत् बन जाता है, फिर स्वप्नजगत् जागृतिमें व्यक्तजगत्। स्वप्नजगत्में मन कार्य्यभारसे मुक्त रहता है, अतएव उसमें सकलन और आकलन-की क्रिया ही तीव्र हो जाती हैं। इस स्थितिमें उसके सामने व्यक्तजगत्की ही रुचि-विरुचि, तृप्ति-अतृप्ति घनीभूत हो उठती है।

स्वप्नजगत्की अभिव्यक्तियाँ कर्म्मलोक (व्यक्तजगत्) की ही छाया-वृत्तियां हैं, कविकी इन पंक्तियोंमें इसी अनुभूतिका परिचय मिलता है—

'किन कर्म्मोंकी जीवित छाया उस निद्रित-विस्मृतिके संग
आँखमिचौनी खेल रही वह किन भावोंकी गूढ़ उमंग ?'

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन कभी निष्क्रिय नहीं रहता, कर्म्मजगत्में यदि वह कार्य्योंमें सक्रिय रहता है तो स्वप्न-जगत्में भावनाओं या आकांक्षाओंमें। कभी-कभी मनकी क्रिया इतनी बलवती हो उठती है कि मनुष्य स्वप्नमें भी उठकर चलने-फिरने लगता है। हम इसे इस रूपमें लें कि तेजीसे आती हुई मोटर या साइकिलको ब्रेक लगाकर रोक देनेपर भी भीतरके अवशिष्ट वेगसे वह कुछ दूर गतिमय हो जाती है। इसी तरह मनका जो अति वेग निद्रामें भी शान्त नहीं हो पाता वह निद्राभिभूत शरीरको भी चालित कर देता है।

हाँ तो, मन दो नहीं, एक है। निशादिवामें विभाजित समय जैसे एक ही अखण्ड कालके अन्तर्गत है वैसे ही कालानुक्रमके कर्म्म भी एक ही मनके कृत्य हैं। मन तो इकहरा ही है, केवल उसके कर्त्तव्य दुहरे-तिहरे-बहुतेरे हैं। व्यक्ति जैसे भिन्न-भिन्न पदोंपर बैठकर भी मूलतः एक रहता है वैसे ही मन भी अनेक कर्त्तव्योंमें एक ही कर्त्ता भोक्ता, द्रष्टा बना रहता है।

'शरीरमाद्यम् खलुधर्म साधनम्'

यद्यपि मन बलवान है, उसकी शक्ति असीम है, तथापि, वह क्षणभंगुर शरीरके अधीन है, जैसे वेग अपने वाहनमें। वेगकी गति वाहनके अनुरूप होती है। मोटरमें चाहे जितना पेट्रोल हो, लेकिन पेट्रोलकी शक्ति मोटरके ही अधीन है। यदि मोटर ठीक नहीं हो तो वह केवल पेट्रोलकी शक्तिसे नहीं चल सकती। यही कारण है कि कभी-कभी मोटरको ठेलना भी पड़ता है।

कहनेका अभिप्राय यह कि मनकी शक्ति यद्यपि अपरिमित है तथापि

उसकी गति-विधि शरीरसे ही परिमित है। शरीरकी शिराएँ मनके लिए स्वरकी रेखाओंकी तरह है। यदि रेकर्डकी रेखाएँ क्षीण हो गयी हो या उनमे कोई अन्य खराबी आ गयी हो तो स्वरका समुचित संचालन नही हो सकता। अतएव, मनको, आत्माको, चेतनाको प्रधानता देकर भी हमारे यहा शरीरकी उपेक्षा नहीं की गयी है। यद्यपि मनुष्यकी आत्मा वेणु-स्वरकी तरह शरीरतक ही सीमित नही है, किन्तु जबतक शरीर आत्माका वाहन है तबतक स्वर वेणुसे ही बँधा हुआ सगुण है।

स्वरके लिए जैसे हम वेणुकी उपेक्षा नही कर सकते वैसे ही मन, बुद्धि, चित्त, चेतना या आत्माके लिए शरीरकी भी उपेक्षा नही कर सकते। इसीलिए हमारे यहां कहा गया है—"शरीरमाद्यम् खलु धर्म्म साधनम्।" इसका मतलब यह कि यदि शरीर सयत और स्वस्थ है तो मन भी वैसा ही हो जायगा। शरीरकी आद्यता स्वीकार कर शारीरिक भोगोको प्रधानता नही दी गयी, बल्कि सकेत यह है कि शरीरको जैसा सयत-असयत, स्वस्थ-अस्वस्थ रखगे वैसी ही बुद्धि और क्रिया बनेगी। अपने स्वास्थ्य-अस्वास्थ्यसे ही मनुष्य साधु-असाधु बनता है। शरीर को साधनेके लिए ही दिनचर्य्या, परिचर्य्या और उपचर्य्या है। इनके व्यतिक्रमसे मनका भी व्यतिक्रम हो जाता है। आधुनिक रहन-सहनमे यह व्यतिक्रम पग-पगपर दिखायी पडता है—रात-रातभर सिनेमा देखना, अनाप-शनाप खाना, उ प पानके बजाय चायके प्याले उडाना, स्नान-ध्यानके बजाय तौलियेसे केवल हाथ-मुह पोछ लेना! ऐसी म्लेच्छतासे शरीर अशुद्ध (अस्वस्थ) और मन मलिन हो जाता है।

दिनचर्य्या

हमारे यहा सधी हुई दिनचर्य्यामे ही जीवनकी साधना दिखलायी गयी है। गोस्वामीजीकी इन पक्तियोमे इसी साधनाका सकेत है—

उठे लखन निसि बिगत सुनि अरुन-सिखा-धुनि कान।
गुरु ते पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान॥

इन्द्रियो और उनकी क्रियाओको नैसर्गिक सुषमा देनेके लिए ही दिनचर्य्या है। सुन्दर व्यक्तित्वमे प्रकृतिका ही सौन्दर्य-सन्दोह रहता है. मनोहर अग-प्रत्यग और हँसने-बोलने-चलनेकी उपमा प्राकृतिक उपादानोसे दी जाती है।

अपनी दिनचर्य्यामे जो प्रकृतिका अधीश्वर है वही ईश्वर है। रामकी तरह योगेश्वर कृष्ण भी अपनी दिनचर्य्यामे प्रकृतिके ही अधीश्वर है। उनका

गोचारण, वन-विहार, यमुना-तट-लीला-विस्तार, ये सब उनकी प्राकृतिक दिनचर्य्याके क्रिया-कलाप है ।

युक्ताहार-विहार

गीतामे भगवानने जीवनका सम्पूर्ण मन्त्र एक ही शब्दमे दे दिया है—'युक्ताहार-विहार ।' निसर्गके साथ सधी हुई दिनचर्य्यामे इसी युक्ताहार-विहारका विधान है । आहार-विहारके व्यतिक्रम (अस्वास्थ्य) से ही आजके सारे आचार-विचारमे भी व्यतिक्रम आ गया है । इस व्यतिक्रमको जीवनकी समुचित गति-यति देनेके लिए ही गांधीजी प्रतिदिनकी छोटी-मोटी बातोमे दिलचस्पी लेते थे । आनेवाला संसार अपने बड़े-बडे मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रयोगोमे विफल होकर जिन्दगीकी छोटी-मोटी बातोमे ही जीवनका निस्तार खोजेगा । वर्तमान कथा-साहित्यमे यह तो दिखायी देता है कि एक आदमी अच्छा है दूसरा बुरा, लेकिन अच्छे-बुरेका निर्णय जिस सामूहिक (मनोवैज्ञानिक और सामाजिक) मानदण्डमे किया जाता है वह पर्य्याप्त नही है। चरित्रकी अच्छाई-बुराईका एक विशेष कारण मनुष्यका निजी स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य भी है। अनुकूल सुविधाओके अभावमें जहा स्वास्थ्य सम्भव नही है, वहा अस्वस्थताका कारण सार्वजनिक है । लेकिन जिन्हे पर्याप्त सुविधा प्राप्त है उनकी अस्वस्थताका कारण वैयक्तिक ही हो सकता है ।

सबसे बडे मनोवैज्ञानिक तो वे साधारण जन है जिन्होने कहावतो एव लोकोक्तियोंमे जीवनका सार निचोड कर रख दिया है। उन्हीकी यह लोकोक्ति है—'जिसका आत भारी, उसका माथ भारी ।' भारी माथ (कुण्ठित मस्तिष्क) मनुष्यसे उस प्राकृतिक दिनचर्य्याकी माग करता है जिससे उसका शरीर स्वस्थ होकर मनको भी स्वस्थ बना दे । जहा मलावरोध होता है वहाँ बुद्धिका भी अवरोध हो जाता है। आयुर्वेद कहता है—

सर्वेषामेव रोगाणा निदान कुपिता मला ।
तत्प्रकोप स्यतु प्रोक्त विविधाहित सेवनम् ॥

मलमुक्त शरीरमें ही निर्म्मल मन रह सकता है। शरीर और मन, देह और देहीकी समस्या स्वास्थ्यकी ही समस्या है। शरीरके मोक्षण (मल-विसर्जन) से देहीका भी मोक्षण हो जाता है।

जनसाधारणके पास जीवनका जो निदान है वह वैज्ञानिकोंके पास नहीं। आधुनिक विज्ञान विकृतियोंको निर्मूल नहीं करता, बल्कि विकट उपचारोंसे विकृतियोंको दबा देता है। आवश्यकता है स्वस्थ दिनचर्य्याको प्रोत्साहन देनेकी, ताकि कृत्रिम रोग उत्पन्न ही न हों।

चरित्रका अध्ययन

वर्त्तमान कथा-कहानियोंमें घटनाओं, क्रियाओं और कथनोपकथनके भीतरसे चरित्रचित्रण किया जाता है, इनके साथ दिनचर्य्याका भी समावेश होना चाहिये। केवल दिनचर्य्यासे भी किसी व्यक्तिके चरित्रका परिचय मिल सकता है। दिनचर्य्याके अनुरूप ही मनोवृत्ति बनती है।

धार्मिक कथाओंमें दिनचर्य्याका भी उल्लेख मिलता है। 'मानस' में देखिये—

तेहि दिन भयेउ विटपतर बासू। लषन सखा सब कीन्ह सुपासू॥
प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥
राम कीन्ह विश्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाय।
चले सहित सिय लषन जन, मुदित मुनिहिं सिरु नाय॥

आकृति-विज्ञान

यदि हम मनुष्यके साथ उसकी दिनचर्य्यामें देरतक न रह सकें और पल-भरकी झलकसे ही व्यक्तिका आन्तरिक अध्ययन कर लेना चाहें तो उसकी मुखाकृति देखनी चाहिये। यदि हमारा मन स्वच्छ है, निर्म्मल है तो जलमें प्रतिबिम्बकी तरह मुखाकृतियोंसे ही मनुष्यका मर्म्मोद्घाटन हो जायगा।

मनुष्यके चरित्रका 'मीटर' उसकी मुखाकृतिपर लगा रहता है। जैसा जीवन होता है वैसा ही मुख बन जाता है। शैशवके निरीह सारल्यमें सभीका मुख सुशोभन जान पड़ता है, किन्तु आगे जीवन-प्रणालीके अनुसार उसी मुखका रूपान्तर हो जाता है। शैशवमें सभीकी मुखाकृति इसलिए सुहावनी लगती है कि उसमें प्रकृति (माता) के स्वास्थ्यकी स्निग्धता रहती है। सुन्दर मुख प्रकृतिका ही पुरस्कार है। ज्यों-ज्यों मनुष्य अपने दैनंदिन जीवनमें प्रकृतिका उल्लंघन करता जाता है त्यों-त्यों वह कुरूप होता जाता है। जिन्होंने अपने जीवनमें प्रकृतिको साथ लिया है उन्हींके मुखपर शैशव चिर-

शोभायमान रहता है। देवचित्रोंमें श्मश्रु-विहीन सुस्निग्ध मुखमण्डल उसी शैशवका द्योतक है।

धार्म्मिक कथाओंमें मुखाकृतियोंसे चरित्रका बहुत-कुछ संकेत कर दिया गया है। राम और रावणका चरित्र उनके मुखपर अंकित है। उनके चित्रोंमे मनोविज्ञान आकृति-विज्ञान बन गया है। आधुनिक वैज्ञानिक भी आकृतियोंका अध्ययन कर रहे हैं। अमेरिकामे एक ऐसा अस्पताल बनवाया गया है जहां बच्चोंके स्वभावकी परीक्षा की जाती है। प्रति सप्ताह चित्र खींचकर उनकी मुखाकृतिका अध्ययन किया जाता है।

वर्त्तमान कथा-साहित्यमें रवीन्द्रनाथकी रुचि आकृति-विज्ञानकी ओर थी। उनकी रचनाओंमें आकृतियोंका चित्रण प्राय. मिलता है। उनकी दृष्टि मर्म्म-भेदिनी थी। बाहरी आकृतिमे कृत्रिम भद्रता हो सकती है, इसीलिए उनकी दृष्टि भीतरी आकृतिमे भी प्रवेश करती थी। तभी तो 'चार अध्याय' की एला कहती है—'उसका एक भीतरका चेहरा मुझे दिखायी देता है, बिलकुल अष्टपद जन्तुकी तरह।'

रवीन्द्रनाथके कथा-साहित्यमे बाहरी आकृतियोंका और उनकी चित्र-कलामे मुख्यत भीतरी आकृतियोंका चित्रण है। रवीन्द्रनाथकी सजग दृष्टिमे देखनेपर बाहरी आकृतियोंमे भी भीतरी आकृतिका आभास मिल जाता है। भीतरी आकृतियोंमे मनुष्य पशु हो गया है और पशु मनुष्य। इसीलिए उनकी चित्रकला अपूर्व और अद्भुत है।

समस्या

एक ऐसे युगमे जब कि सामूहिक समस्याओंने मनुष्यको वैयक्तिक साधना (स्वास्थ्य-साधना) मे वंचित कर दिया है वहा बाहरी मुखाकृतियोंमें विविधता होते हुए भी सभीका अन्तर्मुख एक-सा ही कुरूप और घृणित हो गया है। ऐसी स्थितिमे किसे कुरूप कहे, किसे किसे सुरूप? सबका बाहरी मुख केवल एक 'चेहरा' मात्र रह गया है, जिसके भीतर बैठा हुआ 'अष्टपद जन्तु' आखेटकी टोह लेता रहता है।

हम देखे, वे समस्याएँ क्या हैं जिन्होने मानव-समाजको इतना विकृत कर दिया है।

जैसा कि ऊपर कहा है, विमल बुद्धिके लिए युक्ताहार-विहार आवश्यक

है। वर्तमान समस्याएँ आहार-विहारके व्यतिक्रमसे उत्पन्न हुई हैं। कण्ट्रोल और राशनिंगके पहिले कहीं अति आहार-विहार था तो कहीं अनाहार अर्थात् रसाभाव, 'अतिशय दुख है उत्पीडन अतिशय सुख भी उत्पीडन।'—दोनोंकी परिणति एक-सी ही हुई। जीवनके सम्यक् भोगसे वंचित हो जानेके कारण आहार-विहारकी विकृतियाँ रोटी और सेक्सकी समस्याके रूपमे प्रकट हुई। सम्पन्नता और विपन्नता दोनोंकी सामाजिक अधोगति एक-सी हो गयी। कविने कहा है—

'मानव-जगमें बँट जावें सुख दुखसे औ दुख सुखसे।'

किन्तु आज वर्तमान विश्वव्यापी अकालमे सुखका नाम नही, केवल दुख ही दुख है।

वर्तमान कथा-साहित्यमें रोटी और सेक्सकी समस्या उभर पडी है। फ्रायड ने सभी मनोविकृतियोंका कारण यौनचेतनाकी कुण्ठामे दिखलाया है। किन्तु सेक्सकी समस्या अकेली नही, वह रोटीके साथ जुडी हुई है। रोटी और सेक्स अन्योन्य है। रक्तनिर्म्माण और उसका स्वस्थ सचालन, यही तो रोटी और सेक्सका अभिप्राय है। यदि यह अभिप्राय सफल नही होता तो रोटी और सेक्सकी तृप्ति से ही मन स्वस्थ नही हो सकता।

रोटी और सेक्स (आहार-विहार) के रूपमे जो समस्या सामने है उसकी ओटमे समाजकी आधारभूत समस्या गार्हस्थिक है। गृहस्थीमें ही रोटी और सेक्सका स्वस्थ उपभोग हो सकता है। होटलोमे खा लेने और वेश्याओंके यहा विहार कर लेनेमे रोटी और सेक्सकी सन्तुष्टि नही हो सकती। मूलरूपमें यह समस्या व्यापारिक नहीं, सास्कृतिक है।

जीवनमें जब व्यापारिक प्रवृत्तिकी प्रधानता नही थी तब समाजकी सास्कृतिक सुषमा गार्हस्थ्यके वातावरणमे ही विकसित हुई थी। वर्तमान व्यापारिक विषमताओंने गार्हस्थ्यका ही उद्धार करना है। उसीमें समाजका सुख-स्वास्थ्य है। समस्याको व्यापारिक अथच सैनिक दृष्टिसे देखनेपर वह अपना समाधान नही पायेगी। उसे गृहस्थोकी दृष्टिसे देखनेपर जीवनयापनका वह माध्यम मिलेगा जो ग्राम्यजीवनमे कभी श्रम-सहयोग और सामाजिक सहृदयताके रूपमे था।

इन्द्रियोसे बँधा हुआ मनुष्य भी अन्तत. पशु ही है किन्तु गृह-जीवनका सूत्रपात कर वही पशु सामाजिक प्राणी बन गया था। क्रमश. सभ्यता और सस्कृति-से उन्नति कर आज वही सामाजिक प्राणी फिर पशु क्यो बन गया? इसका कारण समाजकी अर्थतान्त्रिक व्यवस्था है।

समाजका अस्तित्व कृषि-जीवनपर निर्भर है। कहा है—

'उत्तम खेती मध्यम बान, निकृष्ट चाकरी भीख निदान।'

अर्थ-तन्त्रमे वाणिज्य, नौकरी और भिक्षावृत्ति इन्हीका आधिक्य हो जाने से समाज असन्तुलित हो गया है। सामाजिक सन्तुलनके लिए हमे फिर कृषिको महत्त्व देना है, तभी रोटी और सेक्सकी समस्याका ही नही, बल्कि आजकी सभी कृत्रिम समस्याओका अन्त हो सकेगा। कृषि प्रकृतिका प्रसाद है। कृषिजीवी मनुष्य प्रकृतिके सम्पर्कमे उद्यमी और उत्पादक था। प्रकृतिसे मुँह मोड़कर व्यापारिक मनुष्य निरुद्यमी और शोषक हो गया। उद्यमका स्थान लूट-पाट और छल-प्रपचके व्यापारने ले लिया। आज राजनीति, दावपेच, छलछद्म और वितडावादका बोलबाला है।

शोषकवर्ग (व्यापारिक वर्ग) का अत्यधिक भार पड़ जानेके कारण कृषकवर्ग पृथ्वीके भारवाहक शेषनागकी तरह विचलित हो गया है। जबतक वह सुस्थिर नही होगा तबतक समाज डगमगाता रहेगा। यदि इस डाँवाडोल स्थितिको कृषिकी बुनियादपर शीघ्र नही सँभाला गया तो समाज ढहकर नि.शेष हो जायगा। व्यापारिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक प्रयत्नोसे किसी अच्छे परिणामकी आशा नही की जा सकती।

नवजीवनके लिए कृषिको पुन. स्वाभाविक ग्रामीण पद्धतिसे ही सजीव करना चाहिये। वैज्ञानिक पद्धतिसे तो कृषिका विकास उसके ह्रासका ही कारण बनेगा। जैसा कि कहा है—'सहजन अति फूले तऊ डाल-पातकी हानि,' यही हालत कृषिकी भी हो जायगी।

वैज्ञानिक पद्धतिसे श्रम और समयकी बचत तो होती है किन्तु उसका फल स्थायी नही होता। आजकी सभी समस्याएँ तपस्या चाहती है और श्रमपूर्वक मनुष्यको श्रमण बननेका सकेत करती है।

वर्त्तमान कथा-साहित्य

सामयिक कथा-साहित्यमे राजनीतिज्ञो और वैज्ञानिकोका अनुसरण मात्र है, उनमे उस स्वतन्त्र सामाजिक दृष्टिकोणका अभाव है जिसका परिचय रवीन्द्र और शरदके साहित्यमें मिलता है। आधुनिक कथाकारोमे मौलिकता नही, अनुगामिता है। उनमे वह जाग्रत व्यक्तित्त्व नही है जो राजनीतिज्ञो और वैज्ञानिको-मे ऊपर उठकर द्रष्टा बन जाता है।

आधुनिक कथा-साहित्य बहुत सीमित है। इसमें यदि डिक्टेटरशिपके कारण कथा-साहित्य संकुचित हो गया है तो अन्य देशोंमें बौद्धिक गुलामीके कारण। कलाकारोंमें साधनाका सबल नहीं है।

आधुनिक कथा-साहित्यका चित्रपट संकीर्ण है—रोमांस, राजनीतिक आन्दोलन, चर्वित मनोविज्ञान, इतनेहीमें उसकी इतिश्री है। जिसके जीवनसे चित्रपट चित्रित होता है उस सामाजिक मनुष्यका परिचय नहीं मिलता। सच तो यह कि वह केवल शरदकी रचनाओं और प्रेमचन्दके 'गोदान' में ही है।

कलाकारका कर्तव्य दुहरा है—बाहर उसे समयकी तरंगोंपर तैरना है, भीतर उसे अतलमें पैठना है, कविका यही निर्देश है—

'जीवनकी लहर-लहरसे हँस खेल खेल रे नाविक,
जीवनके अन्तस्तलमें नित बूड़ बूड़ रे नाविक!'

साहित्यको स्थायित्व अन्तस्तलके अवगाहनसे ही मिल सकता है।

इस अनिश्चित कालप्रवाहमें, जब कि सब कुछ अस्थिर और अविश्वसनीय हो गया है, आजका कलाकार भी प्रकृतिस्थ होकर किसी सुचिन्तित धरातलपर नहीं खड़ा हो सका है। किसी आन्तरिक निर्म्माणके अभावसे उनकी कलाकारिता बहिर्मुखी हो गयी है। कवि पन्तजीके शब्दोंमें—"क्या चित्रकलामें, क्या साहित्यमें, इस युगके कलाकार केवल नवीन टेकनीकोंका प्रयोग मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्यमें अधिक सुरुचिपूर्ण ढंगसे किया जा सकेगा।"

हमारे साहित्यमें जो नये टेकनीक आ रहे हैं वे भी अनुकरण मात्र हैं। केवल शरदकी रचनाओंमें ही अन्तःकरण मिलता है, जैसा अकृत्रिम उनका समाज है वैसा ही अकृत्रिम उनका अभिव्यंजन भी। शरद्के कथा-साहित्यको ठीक अर्थमें जनताका साहित्य कह सकते हैं।

टेकनीककी दृष्टिसे यह चिन्तनीय है कि आधुनिक कथा-साहित्य प्रचार-प्रधान है। जिन लेखकोंमें व्यक्तित्वका अभाव है वे कलाके क्षेत्रमें लाउडस्पीकिंग करते हैं।

यह युग प्रगतिशील कहा जाता है। प्रगतिशीलताका अभिप्राय मार्क्सवादी विचारधाराके अनुसार जन-समाजको अग्रसर करना है। किन्तु जनताका अपना भी एक निर्म्माण है, सामाजिक साधना है; इसीलिए शताब्दियोंके प्रहारसे भी वह टिकी हुई है। गांधीजीने जनताके उसी आत्मनिर्म्माण अथवा सामाजिक

साधनाको बनाये रखनेके लिए राजनीतिद्वारा उसके विलुप्त स्वावलम्बनका पुनरुद्धार करना चाहा था। इस श्रेणीके लोक-पुरुष और लेखक प्रगतिशील नही कहे जा सकते क्योकि वे पुराण-पन्थी है। प्रगतिशील तो वे लोग हैं जो जनताका यन्त्रोकी तरह निर्म्माण करना चाहते हैं।

आधुनिक कथा-साहित्यके प्रसगमे मार्क्सवादी कलाकार यशपालजीने एक नये शब्दकी उद्‌भावना की है। जो प्रगतिशील नही है, वे 'स्थितिशील' हैं। इसका अभिप्राय यह कि जो जहा खड़े हैं वहीं स्थिर हैं, आगे बढ़ना नही चाहते, वे गति-रहित हैं। किन्तु विचारणीय यह है कि उन्हे अपनी 'स्थिति' का आग्रह क्यों है ? इसलिए कि वे जीवनके किसी ध्रुवकेन्द्र पर खड़े हैं, वे सर्वहारा हैं, दिशिहारा नहीं। उनका ध्रुव केन्द्र है सस्कृति . जनताका आत्मनिर्म्माण। जनता केवल कठपुतली नही है, उसके पास भी सृष्टिरचनाके सजीव तत्त्व हैं . उन्हे पानेके लिए हम 'स्थितिशील' जनताके अनुभवोंकी भूमिपर ही खड़े हैं।

काशी,
१।५।४८

०

रोटी और सेक्स

आजसे कुछ समय पहिले रोटी और सेक्सकी बातें करना घृणित और वीभत्स समझा जाता। इस सम्बन्धमें बात करनेवाला या तो लोभी समझा जाता या कामातुर। हमारे यहां शृंगार रसकी रचनाएँ हुई हैं, लेकिन उनमें भी गुरुजनोंकी लोकलाज है और रस-विनोद समवयस्क सखी-सखाओंके बीचतक ही सीमित है।

यह लोकलाज और मर्य्यादा तभीतक बनी रहती है जबतक जीवनका साधन पर्याप्त रहता है और समाज सुखी रहता है। जब साधनोंका अभाव हो जाता है तब जैसे स्वास्थ्यके अभावमें शरीर विकलांग हो जाता है वैसे ही समाज भी विक्षिप्त हो उठता है। अबतक जिस साहित्यको कला और धर्म्मकी मर्य्यादासे शीलवान बनाकर हम उपस्थित करते रहे हैं वह इधर नग्न और यथार्थ होता जा रहा है। जैसे अवरुद्ध कण्ठका हाहाकार अपना लाज-संकोच छोड़कर वायुमण्डलको भेदकर गूंज उठता है वैसे ही मनुष्यके क्षुधा-कामका अशान्त उद्वेग भी साहित्यमें मर्य्यादाका बाँध तोड़कर उन्मुक्त हो गया है।

आज साहित्य और समाजकी ऐसी स्थिति क्यों है? इसका कारण ऐतिहासिक है। इतिहासने आज हमें एक ऐसे बियाबानमें ले जाकर पटक दिया है जहाँ मनुष्य बे-चारा हो गया है। अकालके दिनोंमें जैसे मनुष्यका कुल-गोत्र घर-द्वार छूट जाता है वैसे ही इस यान्त्रिक युगमें मनुष्यका सामाजिक निर्म्माण टूट रहा है। आज मनुष्य भूखा और नंगा है। कलतक हम जिस समस्याको रोटी और सेक्सके रूपमें देखते थे आज वह अन्न और वस्त्रके रूपमें सार्वजनिक हो गयी है। रोटी और सेक्सका जो असन्तोष दब स्वरमें चला आ रहा था वह आजके हाहाकारका ही पूर्वापर था।

रोटी और सेक्स मनुष्य-जीवनका लक्ष्य नहीं उसका लक्ष्य धर्म्म और मोक्ष ही रहेगा। किन्तु उस लक्ष्यके मार्गमें यह जो स्थूल व्याघात आ गया है, बिना इसका प्रतिकार किये आगे बढ़ना, अतृप्त इन्द्रियोंद्वारा अतीन्द्रियको पानेका विफल प्रयास है।

शरीरके लिए जैसे स्वास्थ्य है, आत्माके लिए उससे भी अधिक धर्म और मोक्ष है। किन्तु शरीरको जब आधि-व्याधि लग जाती है तब पहिले उसका ही उपचार करना पड़ता है। बिना उपचारके जैसे स्वास्थ्य सम्भव नहीं है

वैसे ही क्षुधा-कामकी शान्तिके बिना धर्म्म-मोक्ष भी। रोटी और सेक्स अर्थात् क्षुधा और काम मनुष्यके जीवनकी प्राथमिक एवं प्राकृतिक आवश्यकता है। जहा जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताका ही अकाल पड गया हो, वहा आत्मा कैसे स्वस्थ रह सकती है! 'आरत करहि न काह कुकर्मू?'— सबसे पहिले इस आर्त्तिको दूर करना चाहिये। आज जो स्थिति सामने है उसकी ओरसे आखे मूद लेनेसे काम नही चलेगा। यह स्थिति सक्रामक है। यदि इसे ठीकसे सँभाला नही गया तो जो इससे अपनेको सुरक्षित समझते है, कल उनकी भी स्वस्थता (नैतिकता) खतरेमें पड़ जायगी।

इस संक्रामक स्थितिका कारण क्या है? सम्प्रति इसे चरित्रके वैयक्तिक दृष्टिकोणसे नही देखना चाहिये। हमने पहिले ही कह दिया कि इसका कारण ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक अर्थात् राजनीतिक। राजनीति अपने मस्तकपर जिस लक्ष्यको धारण करके चलती है उसीके अनुरूप जीवनकी सामाजिक प्रणाली बन जाती है। भारतकी प्राचीन राजनीति धार्मिक थी अतएव उसकी सामाजिक प्रणाली भी उसीके अनुरूप थी। राजा-प्रजा दोनोका लक्ष्य धर्म्म-मोक्ष था। दोनोंके भीतर स्नेह, सहयोग, त्याग और बलिदान था। एक शब्दमे, मनुष्य परमार्थी था। इसके विपरीत, वर्तमान राजनीति आर्थिक है। फलतः उसकी सामाजिक प्रणाली भी वैसी ही है। इस प्रणालीने मनुष्यको आत्मलिप्सु एवं स्वार्थी बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो जीवनके पार्थिव साधनोका स्वर्ग बस गया, दूसरी ओर मनुष्यके लिए जीते-जी रौरव नरक बन गया। समाजमे सन्तुलन नही रह गया। कही भोग-विलासका प्राचुर्य्य हो गया तो कही रोटी और सेक्सका अकाल पड़ गया। पहिले समाजमे इसलिए सन्तुलन था कि मनुष्य धार्मिक राजतन्त्रमे चैतन्य था, अब आर्थिक राजतन्त्रमे जड़ है, अनात्म है। जैसा है, वैसी ही उसकी समस्याएँ बन गयी है।

रोटी और सेक्स तो हमारे एकान्त अन्त पुरकी चीज रही है। यह पार्थिव आवश्यकता भी मनुष्यकी सामाजिक भावनासे काव्यकी सुषमा पा गयी थी। बिहारीका एक दोहा है—

टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख-जोति।
फिरति रसोईके बगर, जगर-मगर दुति होति॥

यह स्वाभाविक गृह-छवि आज हमारे जीवनमे कहा रह गयी है! गृह-जीवनकी यह सुरभि, यह शुभ्रता, यह पवित्रता, अब सपनेकी बाते होती जा रही है।

अब तो अन्तःपुरका स्थान बाजार लेता जा रहा है। वहाँ गोश्तकी तरह रोटी भी बिक रही है और सेक्स भी बिक रहा है। जब रोटी ही घरमें मर्यादित नहीं रह सकी तो भला सेक्स कैसे मर्य्यादित रह सकता है! यह ख़रीद-फरोख़्त-का जमाना है। जीवन वेश्या-व्यापार बन गया है। आजकी आर्थिक राजनीति व्यापारिक राजनीति है। व्यापारिक राजनीति हमारे गार्हस्थिक ढाँचेको तोड़ती जा रही है। जिसे हम पुरानी सामाजिक व्यवस्था कहते हैं, वह गार्हस्थिक व्यवस्था है, उसीके भीतरसे क्रमश चारो आश्रमोको गति-विधि मिलती थी।

तो, व्यापारिक राजनीति हमारे सामाजिक ढाँचेको तोड-फोड़ रही है। किंतु यह विध्वंसिनी नीति अपना भी नाश कर रही है और अपने साथ जीवनके शुभचिह्नोको भी मिटाती जा रही है। बगालके अकालमे नैतिकताका ही नहीं, अर्थ-लिप्सु शासन-प्रणालीका भी दिवाला निकल गया था। सारे ससारमें इसका ऐसा ही भविष्य है। यह आर्थिक शासन-प्रणाली गार्हस्थिक समाज-व्यवस्थाको विशृंखल कर स्वयं भी विशृंखल होने जा रही है।

रोटी और सेक्स अर्थात् अर्थ और कामकी समस्या इस व्यापारिक युगके अनुरूप ही वीभत्स है। रोटी और सेक्स अलग-अलग न होकर अन्योन्य हैं; धन, अन्न,प्रजनन, इस क्रममें मूल समस्या आर्थिक समस्या बन गयी है। यह समस्या नग्न-रूपमें हमारे सामने है। हम इस समस्याको स्वीकार करते हैं। किन्तु यथार्थ-वादियोसे हमारा दृष्टि-भेद है। यथार्थवादी इस समस्याको कामनाकी आँखोंसे ही देखते है। हम जीवनमे साधनाको भी महत्व देते है। साधना ही मनुष्यको शुद्ध समाजवादी (सामाजिक प्राणी) बनाती है, कामना व्यक्तिवादी (सकीर्ण प्राणी)।

अपने चारो ओरकी विवर्ण परिस्थितियोको देखकर सामाजिक प्राणी ही यह कह सकता है—

'अपने मधुमें लिपटा पर कर सकता मधुप न गुंजन,
करुणामे भारी अन्तर खो देता जीवन-कम्पन।'

व्यक्तिगत कामनाका ही पुंजीभूत रूप पूँजीवाद है। यथार्थवादी दृष्टिकोणसे (चाहे उसे जो भी नवीन राजनीतिक नाम दे दिया जाय)—पूँजीकी विकृतियोंका अन्त नही होगा बल्कि उसका रुपान्तर हो जायगा। यह इन्जेक्शन देकर रोगको दवा देनेके समान है। हम रोगका निर्मूलन चाहते है। सारे अनर्थोका मूल 'अर्थ' है। हम उसे ही निर्मूल कर देना चाहते है। हम श्रम, सहयोग, सद्भावद्वारा

समाजका निर्माण देखना चाहते हैं। यही हमे साधनाकी ओर ले जायगा। अर्थका स्थान हम कर्म्मको देना चाहते है और कर्म्मको धर्मकी ओर अग्रसर करना चाहते है। हम जीवनकी अन्दरूनी बुनियाद डालना चाहते हैं।

सम्प्रति हमारे चारो ओरके जीवनमे जो रुग्णता आ गयी है वह एक आसन्न समस्याके रूपमें हमारे सामने है। किन्तु रोटी और सेक्सकी समस्या उन्हीके लिए कठिन है जो जीवनमे एक आचार-विचार लेकर चल रहे है। जो आचार-विचारसे मुक्त हैं वे सामाजिक दस्यु है, उनके लिए यह समस्या न तो पहिले थी और न आज है। उनके लिए तो यह समस्या नही, लिप्सा है। वे आत्मलिप्साके लिए सामूहिक कल्याणकी ओरसे वैसे ही आँखें बन्द कर सकते है जैसे अन्न और वस्त्रका चोर व्यापारी। साहित्य और समाजमे रोटी और सेक्सके नामपर जो लोग स्वेच्छाचारिताको ही सामाजिक स्वतन्त्रता समझते है वे भी चोर व्यापारीकी तरह ही सार्वजनिक उत्तरदायित्वसे रहित है; अक्षम्य है।

एक ऐसे अविश्वासपूर्ण वातावरणमे जब कि सभीके भीतर चोर पैठा हुआ है, सभीके भीतर स्वेच्छाचारिता अपना हाथ-पाँव फैलाये हुए है, भला किसे-किसे कहाँतक रोका जा सकता है! आवश्यकता इस बातकी है कि जिन आर्थिक और सामाजिक कारणोसे मतिभ्रष्टता आ गयी है, उन्हे दूर किया जाय।

इन्दौर,
मई, १९४५

मनुष्य और यन्त्र

कोई भी राजनीतिक प्रणाली (चाहे वह साम्राज्यवाद हो, समाजवाद हो या समष्टिवाद हो) एक मशीनरी मात्र है, भले ही वह लोहेसे चले या मनुष्यसे। केवल श्रमिकोंका राज्य हो जानेसे ही मानवताकी स्थापना नहीं हो सकती। देखना होगा, श्रमका साधन और साध्य क्या है ? श्रमिकवाद और साम्राज्यवादके साधन और साध्य एक हैं—वस्तुप्रधान उपकरण (साधन) और उनका उपभोग (साध्य)। मशीनें इसी वस्तुप्रधानताकी निष्पत्ति हैं। इनका अनिवार्य परिणाम उपभोगका लोभ ही होगा। इस साधन और साध्यमें संग्रह और त्यागका विवेक नहीं है, केवल संचय और व्यय है। गोस्वामीजीने कहा है—'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।' संग्रह और त्यागकी पहिचान न होनेके कारण केवल व्यावसायिक बुद्धिका बोलबाला है। श्रमिकवाद और साम्राज्यवाद, दोनोंमें व्यावसायिक बुद्धि है। अन्तर दोनोंके मूल्यांकनमें है। श्रमिकवादमें यद्यपि मूल्यांकन बदल जाता है तथापि व्यावसायिक बुद्धिके कारण वह संतुलित नहीं रह सकेगा। तराजूका पलडा लाख प्रयत्न करनेपर भी किसी न किसी परिमाणमें विषम रह ही जायगा। यद्यपि १९-२० के फर्ककी तरह वह न्यूनतम विषमता दिखायी नहीं पडेगी, तथापि उसका बीजाणु तो शेष रहेगा ही। कालान्तरमें बीज ही तो विषवृक्ष बन जाता है,जैसे आज पूँजीवाद या साम्राज्यवादमें बन गया है। इस प्रगति और अधोगतिमें मनुष्यकी सद्गति कहाँ है ?

असलमें हमें तराजूके पलडोंको नहीं ठीक करना है। 'मनी' के मूल्यांकनसे तराजू सन्तुलित नहीं होगा, सन्तुलन 'मन' से होगा। 'मनी' उपकरण है,मन अन्तःकरण। यदि मन ही सन्तुलित नहीं रहा तो बाह्य सन्तुलन एक वैज्ञानिक विवशता मात्र रह जायगा. मूल्यांकन हो जानेपर भी 'मूल' खोखला या अविश्वसनीय रह जायगा। अतएव, हमें 'मूल्यांकन' की अपेक्षा पहिले 'मूलांकन' कर लेना है।

जीवनदर्शी कवि पन्तजीके शब्दोंमें—'मूल व्यक्तिको फिरसे ढालो।'—यही 'मूलांकन' है। जो अछूता मानव-मन (स्वाभाविक मानवपन) इतिहासोंके कितने परिच्छेदों ('जाति, वर्ण, संस्कृति, समाज') में छिप गया है, उसे ही मूल रूपमें सामने रखकर फिरसे निर्माण-कार्य करना है।

यह तभी सम्भव है जब व्यावसायिक वुद्धिके वजाय मनुष्यके मनमे किसी ऐसी प्रज्ञाका उद्रेक किया जाय जो उसे प्रकृतिस्थ अथवा आत्मस्थ कर दे। प्रचलित प्रयोगमे इस प्रज्ञाको अन्तर्विवेक कह सकते है। इस प्रज्ञाके जो आचार-विचार है उन्हे ही सत्य, अहिसा, अपरिग्रह, अस्तेय इत्यादि सज्ञाएँ दी गयी है, इन्हीसे मन सन्तुलित होता है। इनके विना भी दुनियाका काम चल ही रहा है, किन्तु वह चलना ठेलागाड़ीकी तरह है, स्वत. चालित नही। हमे राजनीतिसे नही जीवनको 'नीति' से संचालित करना है। नीति अन्तर्विवेकका वह विधान है जिसके अन्तर्गत उक्त आचार-विचार समाविष्ट है। नीति आत्माका मीटर है। जव उक्त आचार-विचार अन्त करणसे अगीकृत हो जायँगे तव जीवनका दृष्टि-विन्दु (साध्य) वदल जानेमे लोभ और लाभकी व्यावसायिक प्रवृत्ति न रह जायगी।

इसी मनोभूमिपर पहुँचकर महात्माजी सम्पत्तिके ट्रस्टीशिपकी वात कहा करते थे। किन्तु वह ट्रस्टीशिप किसी कमेटी या समिति या कानूनद्वारा नही स्थापित होगा। यह तो मनुष्यका आत्मप्रेरित उत्तरदायित्व है। प्राचीन कालमें जब भारतीय सम्राट अपना सर्वस्व दान देकर राजकोष खाली कर देते थे तब उनके इस उत्सर्गमे यही उत्तरदायित्व था। कटुतावश जिनके व्यक्तिगत नामोका अक्सर उल्लेख किया जाता है,उन वर्तमान पूँजीपतियोके रवैयोको देखकर यथार्थवादी, महात्माके आदर्शको आकाश-कुसुम समझ लेते है। किन्तु वर्तमान पूँजीपति भारतीय होते हुए भी अभारतीय है। उनकी वणिक-वृत्ति उसी तरह विदेशी है जैसे उनके कारखानेकी मशीनें। वे एक गलत जीवन-प्रणालीके गलत उदाहरण वन गये है। महात्माजी शुद्ध भारतीय जीवन-प्रणालीको पुनरुज्जीवित करना चाहते थे। यदि हम डेढ़ सौ वर्षोमे विदेशी जीवन-प्रणालीको अपना सकते है तो कौन कह सकता है कि उतना ही समय पाकर हम अपने घरका वात-वर्त्ताव न ग्रहण कर लेगे। हमें तो और भी कम समय लगेगा, क्योकि हम पूर्वपरम्पराकी ही प्रजाएँ है, आधुनिक व्यवधानोके कारण उसे भूल गये है। महात्माजी अपने रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा आधुनिक व्यवधानो (विज्ञानो) को दूर करना चाहते थे। जवतक ये व्यवधान वने हुए है तब तक पूँजीपतियोको कोसना व्यर्थ है क्योकि इस युगमे सभी वर्ग एक-जैसे ही स्वभावके हो गये है।

हमारा द्वन्द्व व्यक्तियो या उनके विभाजित समूहोमे नही, वल्कि प्रणालीमे होना चाहिये। ठीक प्रणालीमे एक व्यक्ति भी गण्यमान्य है, जव कि गलत प्रणालीमे एक व्यक्ति या एक देश ही नही, वल्कि सारा ससार नगण्य हो जाता है। इसी-

लिए महात्माजी मञ्चापर नही, वल्कि जीवनके केन्द्र-विन्दुपर एक व्यक्तिके भी खरे उतर जानेको आदर्शकी सफलता मानते थे।

तो, मुख्य मतभेद आदर्शोंका है, फलत. सावन और साध्यका है। हमे राजनीतिका आदर्श नही चाहिये। इसीलिए वापू राजनीतिपर, जीवनकी वैधानिक पद्धति (वर्तमान जीवन-प्रणाली) पर नही. वल्कि रचनात्मक अथवा स्वाभाविक जीवन-पद्धतिपर जोर देते थे। यही पर यन्त्र और मनुष्यका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि गाधीवाद और श्रमिकवाद दोनो ही श्रमको महत्व देते है किन्तु दोनोके श्रमके तरीकोमे प्रकृति और विकृतिका अन्तर है।

श्रम क्या है ?

श्रमिकवाद श्रमको वस्तु (उत्पादन) के रूपमें देखता है और उसीका मूल्याकन करता है। किन्तु गांधीवादमे श्रम वस्तु नही, वल्कि मनुष्यकी धडकनोंका संयोजन है; उसका मनोयोग है। यह तो श्रमके सावनोंमे ही स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यकी धडकन स्वाभाविक गतिसे सक्रिय है अथवा अस्वाभाविक गतिसे। चरखा कातनेवाले मनुष्यकी धड़कन और मशीनपर काम करनेवाले मनुष्यकी धडकनमें मात्रा-भेद हो जायगा। अस्वाभाविक गतिमे चलनेवाले सावनोको ही हम यन्त्र कहते हैं। उनके द्वारा मनुष्यका मनोवेग भी अस्वाभाविक हो जाता है। जीवनके प्रत्येक कार्य-कलापमे जो अस्वाभाविकता आ जाती है, उससे सामाजिक अराजकता फैलती है। साध्य चाहे जितना श्रेष्ठ हो, यदि सावन अशुद्ध (अस्वाभाविक) है तो श्रम निष्फल हो जाता है। स्वाभाविक गतिसे यदि हम मजिलतक देरमे भी पहुँचें तो अस्वाभाविक गतिसे वीचमे मर जानेसे अच्छा है। अस्वाभाविक श्रम आत्महत्या है। लेकिन यदि किसीका साध्य मृग-मरीचिका ही हो और इसे ही जीवन समझनेका भ्रम लेकर आत्महत्या करना चाहता हो तो हम कहेंगे आदर्श उसीके लिए आकाश-कुसुम है। गाधीजी तो आकाश-कुसुमको पृथ्वीपर वोना चाहते थे, अतएव पृथ्वीकी मिट्टीकी तरह ही उसके लिए सावन भी स्वाभाविक रखना चाहते थे। गाधीवादका जैसा सावन है वैसा ही साध्य है। उसमे सावन और साध्य एक है, जैसे आरावना और आराध्य। अन्यान्य राजनीतिक प्रणालियोमे दोनो अलग हो जाते है, उनमें मनोयोग या अद्वैत नही रहता, रहता है केवल उद्विग्न मनोवेग।

सच तो यह कि पहिले साध्यको हृदयगम कर लेना चाहिये, फिर जैसी मंजिल होगी वैसी ही सीढी (सावन) वनेगी। क्या श्रमिकवाद मानवताके लिए

लक्ष्यवान है अथवा स्थापित स्वार्थों ही के विकेन्द्रीकरणकी ओर है ? दूसरी स्थिति-मे तो स्वार्थ केवल विभाजित हो जाता है, उसकी क्षुद्रता नही मिटती।

मानवता शब्द अर्थगर्भित है। असलमे वह है स-हृदयता। किसी युगमे मनुष्य सृष्टिका इतना विवेकशील प्राणी समझा गया कि सहृदयताको उसीके नामसे सम्मानित कर दिया गया। इसका यह अर्थ नही है कि हम मनुष्यके प्रति सहृदय हो और अन्य जीवोके प्रति निर्दय। सहृदयताकी दिशामें ही अहिंसाकी अनिवार्य आवश्यकता है। यदि हम अन्य प्राणियोके प्रति निर्दय रहेगे तो इससे हमारा जो स्वभाव या अभ्यास बनेगा वह मनुष्यके साथ भी कैसे न्याय कर सकेगा ? अतएव अहिंसाको चाहे पुरानी भाषामे जीव-धर्म कहे अथवा छायावादकी भाषा-में हृदय-वाद कहे, मानवोचित सद्वृत्तियोको रोपनेके लिए वही उर्व्वर सुकोमल मनोभूमि है। कठोर धरतीमे कोई भी बीज नही जम सकता।

वर्त्तमान प्रचलित अर्थमें प्रयुक्त मानववादमे गाधीवादको सम्मिलित करना उसे संकुचित करना है। यद्यपि वह किसी 'वाद' के अन्तर्गत नही है तथापि यदि इसके बिना काम न चलता हो तो हम कहेगे उसे प्राणवाद, हर स्थितिमे वह यंत्रवादसे भिन्न है।

इन्दौर,
जुलाई, १९४५

साइकिल रिक्शा और एक्का

बैलगाडियोंका स्थान मोटरलारियोंने ले लिया, लेकिन बेचारे एक्केको क्या पता था कि उसके भाग्यमें भी एक नया प्रतिद्वन्द्वी बदा है। बेचारा टुट्-टुट् अपना टट्टू लिये बूढ़े आदमीकी तरह बड़ी लम्बी उम्रसे चला आ रहा था कि अचानक एक दिन उसने देखा, एक अप-टु-डेट 'ट्यूरर' (!)सड़कपर लट्टूकी तरह नाच रहा है। नाम है—साइकिल रिक्शा। उसका चालक पशुके स्थानपर मनुष्य है। एक्केने मन ही मन सोचा—अरे, यही उसका वारिस होगा! इससे तो मनुष्य ही पशु हो जायगा।

आह, मनुष्यके जीवनमें यह कैसी महार्घता आ गयी है कि उसे पशुओंका स्थान रिक्त कर अपने लिए ठौर-ठिकाना बनाना पड़ रहा है!

काठका एक्का मारे चिन्ताके सूखकर और काठ हो गया। अपनी चमक-दमकके साथ रिक्शा इतराता हुआ चलने लगा।

देखते-देखते बाजारमें रिक्शोंकी भरमार हो गयी, जिधर देखो उधर रिक्शा!—मानो एक्कोंकी पुरानी दुनियामें नयी दुनियाके रंगरूट!

धीरे-धीरे एक्का रिटायर होने लगा। एक्का था तो काठका, किन्तु उसमें जीते प्राणियोंकी चेतनाने एक जीवित व्यक्तित्व ला दिया था—उससे मनुष्य भी पलता था और पशुका भी निर्वाह होता था। मनुष्यके सम्पर्कमें आकर पशु भी सामाजिक प्राणी बन गया था जैसे रथमें, बहलीमें, बैलगाडीमें, किसानके हलमें। एक्केने पशुको भी मनुष्यके सम्पर्कसे मनुष्य बना दिया था किन्तु रिक्शेने मनुष्यको द्विपद-पशु बनाकर चार पैरोंके पशुको आउट-आव-डेट कर दिया।

जीवनके पथमें चलते-चलते बेचारा भूखा-प्यासा मनुष्य हो गया है पशु—हाथ-पाँव रहते हुए हो गया है लँगडा-लूला। पूँजीवादी समाजमें आजका अधिकांश मानव-समुदाय इसी तरह अपाहिज हो गया है, जिसे हम सभ्य भाषामें कहते हैं—बेकार या गरीब। पूँजीवादी सभ्यता एक ओर अपनी टकसालोंमें सिक्के ढाल रही है और दूसरी ओर यन्त्रोंका निर्माण कर रही है। इस सभ्यताका निकल गया है दिवाला, इसीलिए यह चेतनाकी नहीं, जडताकी प्रतिनिधि हो गयी है। यह मनुष्यको पशुका और पशुको यन्त्रका स्थान दे रही है। रुपया, पैसा, सोना,

चाँदी, तांवा, लोहा, पत्थर, कंकड इन्हीको लेकर पूँजीवादी सभ्यता चल रही है, इन्हींको लेकर वह जीवनका मूल्य लगाती है। जिनके पास यह सब कुछ है वे है वैंकर या महाजन अर्थात् पूँजीवादी सभ्यताके सम्मानित स्तम्भ! जिनके पास इनमेंसे कुछ भी नही है वे या तो रास्तेकी धूल फाँके या यन्त्रवाहक होकर अपनी बची-खुची जिन्दगीको धूलमे मिला दे।

और इस लोहे, कंकड, पत्थरकी पूँजीवादी सभ्यताका अन्त कहाँ है? यह तो सुरसाकी तरह अपने कराल कलेवरका 'एन्लार्जमेण्ट' करती जा रही है—तोप, वम, गोला, वारूद, मशीनगन, टैंक, सवमैरीन, क्रूजर उसके एक-से-एक विकट अंग है। रिक्शेकी वड़ी वहन मोटर तो उसके नथनेका एक मसा मात्र है। ऐसे समयमें भला आप ही सोचिये, उस एक्केकी क्या विसात है! उसकी लकड़ी चूल्हेका दो दिनका ईंधन वन सकती है, किन्तु पूँजीवादी सभ्यताकी आकाश-चुम्बी जठराग्निमे वह तिनकेके वरावर भी नही है।

और फिर इस रिक्शेकी ही क्या विसात है! हम दूरन्देशीसे सोचे तो यह रिक्शा उसी सभ्यताका दूरका सवसे छोटा रिश्तेदार है। जिस प्रकार नौकर-शाही शासनका छोटे-से-छोटा अमला प्रजाको वड़ी सरकारकी इच्छाका क्रीत-दास वनाता रहा है, उसी प्रकार यह रिक्शा अपनी छोटी-सी इकाईसे महायन्त्रोंकी मायामे सर्वसाधारणको वाँधता है।

काशी,
अप्रैल, १९४५

किसान और मजदूर

प्रकृतिके सम्पर्कमें, पृथ्वीकी स्वाभाविक मिट्टीमें ग्राम-मनुज जब अपने श्रमका बीज बोता है तब वह कहलाता है किसान। वही जब हल-बैल अन्न-वस्त्र और लगानकी कमीसे नगरोंमें आकर अपनी श्रम-शक्तिका क्रय-विक्रय करता है तब हो जाता है मजदूर।

संसारकी हलचलोंसे दूर, किसान जबतक खेतोंमें हल जोत रहा था तबतक वह सुरक्षित था। लेकिन जब उसके स्वावलम्बी स्वर्गमें भी अकाल फैल गया तब जीवनके लोभसे विवश होकर वह नगरोंमें चला आया। उसे क्या मालूम कि यहाँ काल मुँह फैलाये हुए हैं!

सुनते हैं, एक ऐसा रहस्यमय मगर होता है जो अपने शिकारको बड़ी दूरसे फाँस लेता है। प्यासा मनुष्य ज्यों ही किनारे पर आकर खड़ा होता है त्योंही मगरके मुँहसे निकलकर बहुत ही बारीक जाल उसकी ओर बढ़ आता है। जलका स्पर्श करते ही वह उस अदृश्य जालमें फँस जाता है। एक कृत्रिम त्वचा-जैसा जाल छुड़ाये नहीं छूटता। राजनीति भी वही मगर है, अर्थशास्त्र उसका जंजाल है। देहातसे नगरोंमें आकर किसान उसी जंजालमें फँस गया है।

किसान आया था नगरोंमें जीवन पानेके लिए किन्तु यहाँ संकीर्ण स्वार्थोंके लिए राजनीतिक द्वन्द्व कर रहा है। आज वह हड़ताली मजदूर है। गाँवमें उसके पारिवारिक प्राणी (माता, पिता, पुत्र, भाई, बहिन, गाय बैल) उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, लेकिन उन्हें क्या मालूम कि उनके स्नेहका सम्बल नैतिक मृत्युकी ओर खिंचता चला जा रहा है।

ये हड़तालें क्या हैं? ऊपरसे देखनेमें ऐसा जान पड़ता है कि ये हड़तालें पूँजीवादके मार्गमें मजदूरोंकी ओरसे गत्यवरोध हैं। लेकिन बात क्या ऐसी ही है? मजदूर तो हड़ताल करता है अपनी मजदूरी बढ़ानेके लिए। यदि उसे मुँहमाँगी मजदूरी मिल जाती है तो वह फिर अपने पुराने कामपर लौट आता है। इस तरह हड़तालो द्वारा पूँजीवादके साथ वह आर्थिक समझौता कर रहा है। जिन अमानुषिक उद्योगोंने उनका शोषण किया उन्हींके द्वारा अर्जित धनके लिए होड़ करके मजदूर भी उतना ही कुत्सित हो गया है जितना पूँजीपति। वह किसी नयी चेतनाकी

ओर नही बढ रहा है। यदि पूँजीपतियोंकी आयका ही अधिक-से-अधिक अधिकार पानेके लिए ये हड़तालें हैं तो मजदूर किस मुँहसे अपनेको उनसे भिन्न कह सकता है!

हड़तालें, चाहे जिस किसी भी श्रमिक श्रेणीकी ओरसे हो, केवल आत्म-छलना है। इनसे श्रमिकोंको कोई मौलिक लाभ नही होता, केवल उनके निठल्ले नेताओंका राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध होता है। इस तरह मजदूर एक प्रभुत्त्व (पूँजी-पतित्त्व) के बाद दूसरे प्रभुत्त्व (नेतृत्त्व) का वाहन बन रहा है। श्रमिकोंको नव-जीवन तभी मिल सकता है जब उनका यन्त्रवत् श्रम किसी सामाजिक साधनामें लगकर सजीव हो जाय।

अपनी बुनियादी समस्यासे अनजान मजदूर यह भूल गया है कि वह नगरोंमे आर्थिक द्वन्द्व करनेके लिए नही आया था। आर्थिक द्वन्द्वकी ओटमें उसका मूल उद्यम (खेती) उसकी आँखोंसे ओझल होता जा रहा है। वह आत्मविस्मृत हो गया है।

कहा जाता है, यह श्रमिक-चेतनाका युग है। किन्तु वर्ग-द्वन्द्व (आर्थिक-द्वन्द्व) को हम श्रमिक-चेतनाका शुभचिह्न नही मान सकते। श्रमिक-चेतना तभी मंगलमयी हो सकती है जब वह किसी स्वस्थ दिशाकी ओर अग्रसर हो। जिन कृत्रिम प्रयासोंने जीवनको इतना जटिल बना दिया है उनमे मुँह मोडकर ही श्रमकी स्वाभाविक दिशामे बढा जा सकता है।

बार-बार हडतालें करनेसे तो यह अच्छा है कि उन उद्योगोंका ही बहिष्कार कर दिया जाय जिनसे मनुष्य जीवन्मृत हो जाता है। गांधीजी जिस यन्त्र-रहित जीवनको प्राणान्वित देखना चाहते थे, उनके देहावसानके बाद उसी ओर बढ़कर गांधीजीको पुनर्जीवित किया जा सकता है। गांधीजीके पुनर्जीवनमें ही समस्त राष्ट्रका नव-जीवन है। कांग्रेसी सरकारोंको, जो कि गांधीजीकी तपस्यासे ही पदासीन हैं, इस ओर सचेष्ट होना चाहिये। पश्चिमसे मिली वर्तमान संकटकालीन परिस्थितियोंमे उनकी नीति यह हो सकती है कि सम्प्रति यन्त्रोद्योगोंको वहींतक चालू रखें जहाँतक वे अनिवार्य्य हो, लेकिन प्रयत्न शीघ्रसे शीघ्र गांधीजीके आदर्शोंपर पहुँचनेके लिए करें।

नगरोंमे मजदूरोंकी संख्या जितनी ही घट सकेगी उतनी ही सामाजिकताकी श्रीवृद्धि होगी। वर्तमान स्थितिमें उतने ही मजदूर रहें जो स्वेच्छासेवकके रूपमें सरकारको सहयोग दे सकें। हमें धीरे-धीरे श्रेणिभेद समाप्त कर देना है। श्रमको सौदा नही, सामाजिक सौहार्द बना देना है।

ये हडतालें, ये वर्गद्वन्द्व, ये साम्प्रदायिक सघर्ष तभीतक है जबतक मनुष्य किसी प्रतियोगिता-रहित सामाजिक जीवनमें सुस्थिर नही हो जाता । मनुष्यको सामाजिक प्राणी बनानेके लिए उसे औद्योगिक स्वावलम्बन (प्राकृतिक उद्योगो) की ओर उन्मुख करना चाहिये। राजनीतिसे स्वतन्त्र सर्वोदय समाज अथवा लोक-सेवक संघके रचनात्मक कार्य्यकर्त्ताओकी सफलता इसीमें है। वे ही मजदूरको आर्थिक जजालसे मुक्त कर सकते है।

मजदूरके भीतर यह चेतना जगानी है कि क्षणिक लाभके लिए अपने स्थायी कल्याणको मत भूल जाओ। यन्त्रोद्योगो द्वारा यदि तुम स्वय यन्त्रोके स्वामी बन जाओगे तो भी तुम्हारा दुख दूर नही होगा। यन्त्रोद्योगोका भविष्य अन्धकार-पूर्ण है। जिस धनके लिए तुम धनियोसे प्रतिद्वन्द्विता कर रहे हो वह धन भविष्यमे साधन-शक्ति-रहित हो जायगा। समस्या धनकी नही, धान्यकी है। जबतक भरपूर अन्न-वस्त्र मिलता था तबतक पैसेसे काम चल जाता था लेकिन पिछले युद्धके बाद वस्तुओके अकालने पैसेके महत्त्वको डाँवाडोल कर दिया है। मजदूरो, यदि गिरते हुए पूजीवादके मलबेके नीचे दब नही जाना है तो समय रहते स्वावलम्बी उद्योगोकी ओर लौट पड़ो। गाँवोकी धरती अपनी याद दिला रही है—

'प्रेम प्रीत को बिरवा चले लगाय
सींचनकी सुध लीज्यो मुरझ न जाय।'

हरिद्वार,
४-७-४८

नैतिक हिंसा

काग्रेसी सरकारे नशेवन्दी करके राजनीतिमे अपनी नैतिकताका परिचय देना चाहती है। नशेवन्दी नैतिक दृष्टिसे ही नही, व्यावहारिक दृष्टिसे भी उपयोगी समझा जाता है। जिस राष्ट्रके जीवनमे स्वाभाविक स्फूर्ति नही, वह मादक उत्तेजनाओमे ऊर्जस्वी नही हो सकता। उसका पुरुषार्थ खोखला और उसका कर्म अकर्म हो जायगा। अमेरिका-जैसे भोग-प्रधान देशमे इसी व्यावहारिक दृष्टिसे शरावबन्दीका प्रयत्न किया गया, किन्तु वह निष्फल हुआ। क्यो ?

व्यापारिक प्रवृत्तिकी प्रधानता

जीवनकी जिस निर्मम प्रणाली (व्यापारिक प्रणाली) के कारण प्राणी स्वाभाविक आनन्दसे वचित हो गया है उस प्रणालीको बनाये रखकर कृत्रिम सुखकी मृग-मरीचिका (मादकता) से उसे कैसे विरत किया जा सकता है! नशेबन्दीसे या तो वह बन्धनोको तोडेगा या मृत्युको गले लगायेगा।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। जबतक ससारमे यन्त्रोद्योगोका प्रसार नहीं हुआ तबतक वह सामाजिक प्राणी बना हुआ था। यन्त्रोद्योगोने मनुष्यके प्राकृतिक पुरुषार्थको क्षीण कर दिया, उसे व्यापारिक दस्यु बननेके लिए विवश कर दिया। व्यापारमे पुरुषार्थकी उतनी जरूरत नही है जितनी चालाकी, मक्कारी और जुआ-चोरीकी। इस तरहके छद्मकौशलमे अनिवार्य्यत मनुष्य परस्पर-शोषक बन जाता है। जिन्हे हम शोषित कहते है उन्हे भी अपनेमे किसी असमर्थके शोषणपर निर्भर होना पडता है। जीवनकी व्यापारिक प्रणालीने सभी वर्गोको शोषक बना दिया है। सब एक दूसरेके रक्तपानसे पनप रहे है।

पहिले भी लोग मादक वस्तुओका सेवन करते थे, किन्तु जीवनमे व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता (छद्म-कौशल) तीव्र न होनेके कारण उनपर पुरुषार्थका उत्तरदायित्व था। किसी तिकड़म द्वारा जीवन-यापन सुगम न होनेके कारण उन्हे कर्म्मण्य बनना पडता था। इस तरह वे सामाजिक प्राणी थे, न कि आजकी तरह व्यापारिक।

जितने ही कृत्रिम ढगसे मनुष्य जीवनके साधन बटोरता है, उतने ही कृत्रिम ढगमे उसके जीवनका प्रवाह बहता है। इसीलिए हम देखते है कि सामाजिक युगमे

भी मादक वस्तुओंका सेवन या तो राजवर्गमें था, या वणिक वर्गमें। इन वर्गोंमें मादकताका सेवन ऐश्वर्यका बड़प्पन था। साधारण जनता महलोंके पकवानों और उनकी मादकतासे अभ्यस्त नहीं थी। मादकताका सेवन जिनके लिए मनोरंजन था, वे खुद अपने रहन-सहनमें जनताके लिए मनोरंजनके पात्र थे। जनता राजा, रईसों और धन-कुबेरोंकी कहानियोंमें अपने अतृप्त हृदयको तृप्त करती थी, ओस चाटकर अपनी प्यास बुझाती थी।

धीरे-धीरे जब राजनीति और वणिक-वृत्ति शासक और शोषक वर्गमें ही सीमित न रहकर संक्रामक व्याधिकी तरह जनतामें भी फैल गयी तब वह भी सम्पन्न वर्गके दुर्गुणोंसे ग्रस्त हो गयी। आज मिलका मजदूर भी उतना ही कुत्सित है जितना मिलमालिक। आज किसान भी उतना ही पर-पीडक है जितना जमींदार। आज एक ही प्रकारकी निर्जीव जीवन-प्रणाली और निरानन्द निष्ठुर वातावरणमें किसे भला कहें, किसे बुरा! इस अर्थप्रधान युगका अनर्थ सर्वव्यापी हो गया है। भाई भाईको नहीं पूछता, पुत्र माता-पिताको नहीं मानता। मनुष्यके सभी मानवीय सम्बन्ध टूट गये हैं। मनुष्य-मनुष्यके बीच केवल एक सम्बन्ध शेष है—आर्थिक सम्बन्ध। इसीकी तुष्टिके लिए तरह-तरहके संघ बन रहे हैं—चूड़ी संघ, बीड़ी संघ, मजदूर संघ, पत्रकार संघ, लेखक संघ और न जाने कौन-कौनसे स्वार्थ संघ! यह संघटन ऐसा ही है जैसे एक शरीरकी अनेक इन्द्रियाँ अपना अलग-अलग संघ बनाकर अपनेको पुष्ट करनेकी मूर्खता करें। स्वार्थोंका यह संकुचित सम्बन्ध कबतक टिक सकेगा! क्या वह स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती जब कि मनुष्य इस अवशिष्ट सम्बन्धको भी तोड़कर बर्बर बन जायगा! आर्थिक आधारपर लड़े जानेवाले बार-बारके युद्धोंमें मनुष्यकी आदिम बर्बरताको ही बल मिल रहा है।

पूँजीवादको हम कोसते हैं। लेकिन मनुष्यको व्यापारिक प्राणी (क्रेता-विक्रेता) बनाकर पूँजीवादका नाश कैसे किया जा सकता है! साहित्य, संस्कृति, सभ्यता सब कुछ तो खरीद-फरोख्त बन गया है। जब कि प्रत्येक कर्म एक पेशा या रोजगार है, किसे कुलीन कहें, किसे कुली! सभी तो अधम-वृत्तिमें लगे हुए हैं।

जहाँ जीवन-यापनका प्रमुख साधन धन है वहाँ पूँजीवाद निर्मूल नहीं हो सकता, भले ही उसका रूप बदलकर शस्त्रबल, बाहुबल या छद्मकौशल हो जाय।

निर्माणकी दिशा

समाजमें धनकी इतनी प्रधानता क्यों हो गयी? इसलिए कि धन राजनीतिक शक्ति है। राजनीतिकी राजधानी नगरोंमें है। नगरोंमें आवश्यक वस्तुएँ

उत्पन्न नही होती। उन्हें सुलभ करनेके लिए राजनीतिने व्यापारिक प्रवृत्तिको प्रश्रय दिया। जबतक जीनेके साधन पर्य्याप्त थे तबतक व्यापारिक प्रवृत्ति उत्पत्ति-केन्द्रो (गाँवो) से दूर रही। वहाँ मनुष्य-मनुष्यके बीच सामाजिक सम्बन्ध बना हुआ था। जब वस्तुओका अकाल पड गया तब व्यापारिक प्रवृत्ति उत्पत्तिकेन्द्रोमे भी पहुँच गयी। आज चारो ओर दूकानदारी ही दूकानदारी है। यह भी उतनी ही बुरी है जितनी शराबखोरी। बल्कि यो कहे कि शराबखोरी इस दूकानदारीका ही एक विषैला परिणाम है।

जहाँ घरेलू आवश्यकताओके लिए बाजारका मुँह ताकना पडता है वहाँ सामाजिक शालीनताकी आशा नही की जा सकती। जब रोटी भी बाजारमे बिकेगी, सेक्स भी बाजारमे बिकेगा, दूध भी शराबकी तरह बाजारमे बिकेगा, तब सामाजिक साधनाकी आवश्यकता ही किसे रह जायगी! समाजका अस्तित्व उसके गार्हस्थिक निर्माणमे है। व्यापारिक प्रवृत्तियोसे उसी निर्माणका निर्मूलन हो रहा है।

जीनेके साधन तो लुप्त होते जा रहे है किन्तु फैक्टरी, मार्ट, एम्पोरियम, सिनेमाहाउस, रेस्टराँ धडाधड खुलते जा रहे हैं। धनका अम्बार लग जानेपर भी धान्यके अभावमे क्या ये ही दूकाने कल कब्रिस्तान नही बन जायँगी!

खाद्य-सामग्री उत्पन्न करनेके बजाय बाजारू व्यवसायके लिए जमीन घिरती जा रही है। यदि यही हालत रही तो ट्रेनके ठसाठस डब्बेकी तरह एक इंच जमीन भी साँसके लिए खुली नहीं बच सकेगी। जबतक भूमि का यह दुरुपयोग रोका नही जाता तबतक अधिक 'अन्न उपजाओ' का नारा निरर्थक है।

सरकारको चाहिये कि सिनेमाहाउसो और फैक्टरियोकी बाढ रोके। उनके द्वारा घेरी गयी जमीनोको खाली कराकर जनताका गृह-सकट दूर करे। इस समय सिनेमाहाउसों और फैक्टरियोकी अपेक्षा सस्ते स्वास्थ्यप्रद सीधे-सादे निवासस्थानोकी आवश्यकता है जिनके सामने इतनी खुली जमीन हो कि उसमे फल-फूल, शाक-भाजी उपजाये जा सके। सच तो यह कि नगरोको भी देहात बना देना है। दूकानदारीको नही, बल्कि मनुष्यके घरेलू स्वावलम्बनको प्रोत्साहित करना है।

रेस्टुरेण्ट, होटल इत्यादिके बदले हाथके कुटे-पिसे आटा, दाल, चावलके केन्द्र खुलने चाहिये, उन्हींके साथ शुद्ध घी, दूधके भण्डार भी। सन् '३४ मे ग्रामोद्योगोके सिलसिलेमे गाधीजीकी प्रेरणासे ऐसे ही प्रयत्न किये गये थे जो कि द्वितीय

महायुद्धके शुरू होते ही अन्न, धन, जनके विकराल शोषणके कारण समाप्त हो गये। गांधीजीके प्रयत्न ग्रामीण व्यवस्थाको अक्षुण्ण बनाये रखकर ही सफल हो सकते हैं।

भाषा और रहन-सहन

रेस्टुरेण्ट, होटल इत्यादि अंग्रेजीकी विरासत है। भाषाके भीतरसे ही नहीं, बल्कि अपने रहन-सहनके भीतरसे भी अंग्रेजीको हटा देना है। स्वदेशीका आग्रह राजनीतिक नहीं, सामाजिक है। आंग्ल देश व्यापारप्रधान है, हमारा देश कृषि-प्रधान है। फलतः दोनोंकी जीवन-प्रणालीमें अन्तर है। स्वदेशीका आग्रह अपने देशमें अपने देशके अनुरूप जीवन-प्रणालीको प्रश्रय देनेके लिए है। राष्ट्र-निर्माण-के प्रत्येक कार्य्यमें यदि हमारी अपनी शैली, अपनी प्रणालीका विकास नहीं हुआ तो अंग्रेजों और अंग्रेजीके हटानेमें कोई लाभ नहीं। इनके हटनेकी सार्थकता तभी है जब कि हमारा दबा हुआ व्यक्तित्व मुक्त होकर अपना मौलिक विकास कर सके।

स्वतन्त्र भारतके सामने जीवन-निर्माणका दृष्टान्त अपने अतीतके इतिहासमें है, जिसकी प्रशंसा विदेशी यात्रियोंने भी की है। क्या अब फिर वैसे ही पुर, नगर, ग्राम, गृह और पान्थशालाएँ नहीं बन सकतीं? जबतक हमारे जीवनमें व्यापारिक युगका अभिशाप छाया हुआ है तबतक स्वतन्त्र भारत और परतन्त्र भारतमें कोई अन्तर नहीं।

राजनीतिक दासता या सामाजिक पतन?

हमारा देश इन दिनों जारकालीन रूसकी स्थितिमें है। जारके समयमें सारे देशकी सुख-सुविधाएँ सिमटकर राज-परिवार और उसके परिकर-वृन्दमें सीमित हो गयी थीं। रक्त-शोषित शरीरकी तरह जन-समाज जीवनके सुख, स्वास्थ्य और सौन्दर्य्यसे वंचित होकर प्रेतलीला कर रहा था। रूसकी उस नारकीय स्थितिका परिचय गोर्कीके संस्मरणमें मिलता है।

मानवीय निर्माणका कोई आदर्श न होनेके कारण जारकालीन रूसमें राजासे लेकर रंकतक सभीका जीवन एक-सा ही कुरूप और वीभत्स हो गया था। जन-साधारणका जीवन राजकीय विकृतियोंका ही सुलभ संस्करण था। अपने देशमें विदेशी शासन भी जारकी तरह ही शोषक था। विदेशी शासक जारसे इस बातमें अच्छे थे कि वे अपना भला-बुरा समझते थे। जार अपना कोई भला नहीं

कर सका, लेकिन भारतके शोषकोंने इसके रक्तकमलसे अपनी सुख-सम्पदाकी अभिवृद्धि की। हमारे आँसुओंसे उनके राजमुकुट मुक्तामण्डित थे। आज जब कि विवश होकर वे भारतको छोड़ गये हैं, इस देशकी कैसी दुर्दशा कर गये हैं! सारा देश एक महाश्मशान बन गया है, जहाँ विदेशी शोषकोंके स्थानपर अब स्वदेशी लुटेरे (चोरव्यापारी, साम्प्रदायिक नेता, अवसरवादी देशभक्त और आत्मलोलुप पदाधिकारी) चीलों और गिद्धोंकी तरह बचा-खुचा मांस नोच-नोचकर खा रहे हैं। आखिर इनका इतना अध पतन क्यों हो गया? इसके उत्तरदायी वे ही विदेशी शासक हैं जिनके शासन-कालमें देशकी आर्थिक श्रेणियों (स्थापित स्वार्थों) को शोषणकी ही शिक्षा मिली, संस्कारिताकी नहीं।

देशमें शिक्षा, संस्कृति, कला और साहित्यकी अनेकानेक संस्थाओंके होते हुए भी यहाँका मानव-समुदाय इतना असंस्कृत और पतित क्यों रह गया? इसका कारण यह कि विदेशी शासनने केवल शोषणके अपने अड्डे ठीक रखे, अन्यान्य लोकोपयोगी प्रयत्नोंकी उसने अवहेलना की। राजनीतिक अपराधियोंको पकड़नेके लिए पुलिस जितनी तत्परता दिखलाती थी उतनी सामाजिक अपराधियोंको पकड़नेके लिए नहीं। उलटे, सामाजिक अपराधियोंको सरकार खिताबों, तगमों और पुरस्कारोंसे सम्मानित करती थी. उनके नाम सम्राटके जन्म-दिवसों और बड़े दिनोंकी उपाधियोंमें देखे जा सकते हैं। भारतका इतने दिनोंका इतिहास बताता है कि जिस देशका जितना ही सामाजिक पतन होता है उसकी राजनीतिक दासता उतनी ही सुदृढ़ हो जाती है।

निरन्तर शासनका भार ढोते-ढोते जनता पशु हो गयी है। उसके जीवनमें न कोई विविधता है, न कोई सुन्दरता। न जाने किस पुण्य युगके सुफलमें कुछ सामाजिक और धार्म्मिक परम्पराएँ उसके हाथमें हैं जिनकी लकीर पीटती वह चली जा रही है। तीर्थ, पर्व्व, त्यौहार, शादी-व्याह, मेले-ठेले ये सब केवल लोकाचार मात्र रह गये हैं। इनमें जीवन नहीं, प्राण नहीं, प्रकम्पन नहीं, धड़कन नहीं।

मादकताका मनोविज्ञान

आज समाजके सभी वर्गोंका जीवन एकरस नीरस है। कहनेको तो लोग 'समाज' में रहते हैं लेकिन सचाई यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमें इकल-विकल है। चारों ओर उदासीनता और वैचित्र्य-हीन शून्यता है। शोषक वर्ग अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंके कारण असामाजिक हो गया है और शोषित वर्ग सामाजिकताके अभावमें अकेला पड़ गया है।

ऐसे ही निष्प्राण वातावरणमें साँस लेनेके लिए लोग तरह-तरहके कृत्य-अकृत्य करते है। जीवन सबके लिए दूभर हो गया है। घरमें सुख नहीं, समाजमें शान्ति नहीं, बाहर मनबहलावका कोई परिष्कृत साधन नहीं। स्वाभाविक उल्लास-के अभावमें लोग कृत्रिम मनोविनोदोंमें अपना समय काटते हैं। लोगोंका निठल्लापन या उथलापन क्लबों सिनेमाघरों और राहकी भीड़-भाड़में देखा जा सकता है।

जीवन इतना असह्य हो गया है कि लोग क्लोरोफार्मकी तरह नशेमे अपने-को आत्मविस्मृत करते हैं। नशा करनेवालोंमें धनिक-श्रमिकका भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस अकाल-युगमें धन और श्रम दोनों ही निष्फल हो गये है। धनिक भले ही कुछ सुविधा प्राप्त कर ले, लेकिन उसका जीवन श्रमिकसे अधिक सुखी नहीं। यदि जीनेके साधनोंका नितान्त अभाव हो जाय तो धनिक भी चोर-बाजारसे कबतक लाभ उठा सकेगा। यही हाल जिन्दगीका है। यदि जिन्दगीमें रस नहीं है तो धन और परिश्रमका बल कहाँतक चल सकता है!

यदि हम नशाखोरीका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि जिसके जीवनमें जितनी ही अधिक ट्रेजडी है उसकी नशाखोरी भी उतनी ही तीव्र है। नशाखोरीका आरम्भ चाहे व्यक्तिगत शौकसे हुआ हो, किन्तु आज उसका कारण सार्वजनिक है।

आज या तो कृत्रिम पुरुषार्थ (दुस्साहस) के लिए नशाखोरी की जाती है या गम गलत करनेके लिए।

जिस जिन्दगीके लिए लोग सारे दिन परिश्रम करते हैं यदि अवकाशके समय वह नहीं मिल पाती तो नशेसे वे मृत्युकी-सी विस्मृतिको अपना लेते हैं। निराशाकी यह चरम स्थिति है, कभी कविको भी कहना पड़ा था—'आओ सो जावें मर जावें।' सच्चा साहित्यकार भी उन्हीं परिस्थितियोंका भुक्तभोगी है जिनका भुक्तभोगी जन-साधारण है। सारे समाजका ही जीवन विस्वाद हो गया है।

साधन और साध्य

गान्धीजीने किसानोंकी सुविधाकी दृष्टिसे कहा था कि सालमें जो उनका बहुत-सा समय व्यर्थ जाता है उसका वे चर्खा चलाकर सदुपयोग कर सकते हैं। महात्माके निर्देशसे नगरोंमे कांग्रेसी सदस्य भी चर्खा चलाते आ रहे है। लेकिन जीवन-निर्म्माणकी समस्या ज्योंकी त्यों है।

यहाँ दो बातें विचारणीय है। एक तो यह कि सबको जीनेके समान साधन

प्राप्त हों, दूसरी बात यह कि विश्रान्तिके समय कर्म्मश्रान्त क्षणोमे रसात्मकताका संचार हो। पहिली बातका सम्बन्ध देशकी औद्योगिक व्यवस्थासे है, दूसरी बातका सम्बन्ध समाजके रुचि-परिष्कारसे। एकके लिए राजनीतिक समाधान चाहिये, दूसरेके लिए कलात्मक।

राजनीति और कला; जीवनके वहिरंग और अन्तरंग है। वाह्य वातावरण-का प्रभाव जैसे आन्तरिक स्वास्थ्यपर पड़ता है वैसे ही राजनीतिका प्रभाव कला-पर। राजनीति अर्थ-प्रधान है अतएव, कला भी व्यावसायिक हो गयी है।

आज आवश्यकता यह है कि जीवनमें पैसेकी प्रधानता कम की जाय। निर्जीव पैसेका स्थान किसी ऐसी सजीव कर्म्म-साधनाको दिया जाय जिससे मनुष्य सामाजिक प्राणी बन सके, न कि संकुचित स्वार्थोंका व्यापारी। आज स्थिति यह है कि पैसा साधन ही नही, साध्य भी बन गया है। पैसेका ही बोलबाला होनेके कारण लोग येनकेनप्रकारेण उसे ही हस्तगत करनेका प्रयत्न करते है। यदि पैसे-पर राज्यका अधिकार हो जाय और उसे उतने ही अंशमे वितरित किया जाय जितने अंशमे जीनेके लिए अन्न-जल आवश्यक है, तो लोगोंको अपनी जीवनीका परिचय अपने गुण-कर्म्मसे ही देना पड़ेगा, न कि पैसेकी शक्तिसे। जीनेके साधन भी जब साधना द्वारा ही उपलब्ध होगे तभी मनुष्य संवेदनशील सामाजिक प्राणी बन सकेगा।

अभी तो पैसेकी शक्ति इतनी अपरिमित है कि लोग उसीकी प्राप्तिमें एकाग्र है, जीवनकी अन्यान्य बुनियादी बातोकी ओरसे विमुख है: न उनमे संस्का-रिता है, न शालीनता, न जीवनकी सुषमा। केवल पैसेकी बर्बर प्रतिद्वंद्वितामें सभी शिकारी कुत्ते बन गये है।

आर्थिक आधारपर कोई भी 'वाद' नही चल सकता। इस समय जब कि सभी देश अपने-अपने राष्ट्रीय पुनर्निर्माणकी बडी-बडी योजनाओमे लगे हुए है, इस बातकी सबसे पहिले जरूरत है कि जीवनके दैनन्दिन व्यवहारके बीचसे सिक्के-की मध्यस्थता दूर कर दी जाय। गान्धीजीका रचनात्मक कार्य्यक्रम इसी ओर संकेत करता है। उनका कहना था कि 'उपज और खपतके बीच सिक्केके आनेकी कमसे कम आवश्यकता होनी चाहिये'—यही वह मौलिक क्रान्ति है जिससे जीवन किसी शुभ परिवर्तनकी ओर अग्रसर हो सकता है। अन्यथा, लाभ, लोभ और प्रतिस्पर्द्धाका विषाक्त बीज (पैसा) बीचमे रखकर इन्कलाब केवल एक हवाई नारा बना रह जायगा।

वर्त्तमान अशान्ति और अव्यवस्थासे ऊबकर संसारके राजनीतिज्ञ एक

विश्व-सरकारकी स्थापनाकी बात सोच रहे हैं। यदि जीवनकी प्रणाली व्यापारिक और उसका लक्ष्य राजनीतिक ही बना रहा तो विश्व-सरकारसे भी संसारका कोई कल्याण नहीं हो सकता। जे. सी. कुमारप्पाके शब्दोंमें 'संसारके गुमराह राष्ट्र यह नहीं समझते कि उनका दैनिक जीवन ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता है जिसमें लड़ाई अनिवार्य्य है। उन्हें अपने जीवन-क्रमको सुधारनेकी आवश्यकता है।'

जीवन-क्रमके सुधारके लिए जीवनकी खोयी हुई दिशाको फिरसे पहिचान लेना चाहिये। वह शुभ दिशा है सामाजिकता, जिसका जीवित रूप है परिवार।

आजका प्रत्येक मनुष्य राजनीतिक प्राणी बन गया है। पैसा ही उसका उद्योग है, पैसा ही उसका उद्देश्य। उद्योग भी जड है और उद्देश्य भी जड़ है। जिस युगमें मनुष्यका मनोविकास चेतनाके सूक्ष्मस्तरतक पहुँच गया था उस युगमें 'कला कलाके लिए' थी। आज जब कि मनुष्यकी चेतना काल-कुंठित हो गयी है तब 'पैसा पैसेके लिए' हो गया है। उसका कोई सजीव लक्ष्य नहीं। जीवनके किसी सजीव गन्तव्यकी ओर मोडकर ही मनुष्यका इस जड़तासे उद्धार किया जा सकता है। सुख-शान्तिपूर्ण परिवारके रूपमें एक स्वस्थ स्वाभाविक पार्थिव जीवन और इसीके अनुरूप प्राकृतिक उद्योगसे पृथ्वीका नव-निर्म्माण हो सकता है। ऐसे ही नव-निर्म्माणमें अतृप्त मानव परितृप्ति पायेगा, जीवनकी असह्यताको भूलनेके लिए किसी मादकताका आश्रय नहीं लेगा। इसी नव-निर्म्माणके लिए गान्धीजी प्रयत्नशील थे। जीवनके जिस स्वाभाविक क्रमको भूलकर मनुष्य आजकी अस्वाभाविक परिस्थितियोंमें भटक गया है, उसे वे उसके सही रास्तेपर लाना चाहते थे।

इस समय संसार जब कि तीसरे युद्धके अग्नि-द्वारपर खड़ा है और उसके विस्फोटसे बचनेके लिए तरह-तरहकी कृत्रिम योजनाओंमें लगा हुआ है, ऐसे समयमें गान्धीका भारत ही यह बतला सकता है कि बडी-बडी अन्तर्राष्ट्रीय आधि-व्याधियाँ जीवनके छोटे-छोटे सरल सुगम नियमोंके उल्लघनसे ही उत्पन्न हुई है। गान्धी-विचारधाराके निर्म्मल मनीषी जे. सी. कुमारप्पा कहते हैं—"अगर हम सच्चे दिलसे सोचें तो पता चलेगा कि ये युद्ध हमारे अर्थतान्त्रिक जीवनके परिणाम हैं। .... हमें अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिये कि हमारी आवश्यकताएँ हमारे ही उत्पादनसे पूरी हों। हमारी आवश्यकता और उत्पादनमें जितना अन्तर पडता जाता है उतना ही पडोसीसे हमारी उलझनें बढ़ती जाती हैं ....हमारी अपनी तो यह धारणा है कि प्राथमिक आवश्यकताओंमें स्वयंपूर्ण होना और दुनियामें शान्ति-

स्थापन करना, ये दोनों एक ही हैं. . . । केवल ऊपरी लक्षणोको दूर करनेसे असली रोग थोड़े दूर होगा !"

सरकारोंकी गति-विधि

इस समय काग्रेसी सरकारें जव कि नशेवन्दी कर रही हैं, उनसे हम पूछना चाहते हैं--जिस महात्माकी तपस्यामे उन्होने राजसत्ता पायी है, उस महात्माके रचनात्मक कार्य्योंको उसीके अनुरूप वे कहाँतक अग्रसर कर सकी हैं ? जीवनके अभावमे ही तो मनुष्य मृत्युको अपनाता है। कोरे कानूनोसे, निषेधोसे नही, वल्कि रचनात्मक कार्य्योंसे जीवन-संचार करके ही मृत्युको रोका जा सकता है। जव मनुष्य, जीवनका रस पा जायगा तव विषको वह स्वयं छोड़ देगा। हमारा प्रयत्न निषेधात्मक नही, रचनात्मक होना चाहिये। जहाँ विधि-निषेधोका वोलवाला होता है, वहाँ कर्त्तृत्वका अभाव जान पडता है। विधि-निषेधोसे वाँध कर जन-समुदायको अनुशासित पशु वनाया जा सकता है, मनुष्य नही। रवीन्द्रनाथके 'चार अध्याय' का अतीन निर्म्माण-रहित निषेधको ही लक्ष्यकर कहता है—'शराव तो वन्द कर दोगे, उसके वदलेमे दोगे क्या ?' जिन कृत्रिम आर्थिक कारणोसे ससार-में राजनीतिक हिंसा हो रही है उन्हे दूर किये विना नशेवन्दी करना एक नैतिक हिंसा है।

काशी,
११-५-४८

तीसरे महायुद्धके बाद

संसार बड़ी तेजीसे तीसरे महायुद्धकी ओर अग्रसर होता जा रहा है। पिछले युद्ध शासकोंकी महत्त्वाकाक्षाओंके कारण होते थे, आगामी युद्ध शासितोंकी बुभुक्षा-के कारण होगा। आगामी युद्ध तभीतक रुका हुआ है जबतक संसारमें जीनेके साधन शेष हैं और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रसे खाद्यान्न खरीद सकता है। लेकिन यह स्थिति कबतक चल सकेगी ?

इस समय पिछले महायुद्धके विजेता राष्ट्र सीधे स्वयं युद्धमें कूद पड़नेके बजाय अविकृत और संरक्षित देशोंमें गृह-युद्धका दावानल धधका रहे हैं। वे आग लगाकर अपना-अपना हाथ सेंकना चाहते हैं। इस स्वार्थ-साधनमें विजेता राष्ट्रों-की जो हाथा-पाई होगी उसीका परिणाम होगा तीसरा महायुद्ध। लेकिन उनके हाथ लगेगा क्या ?

सभी देशोंमे आन्तरिक असन्तोष जग गया है, बढ़े हुए मूल्योंके अनुसार मजदूरी पानेके लिए आये दिन हड़तालें हो रही हैं। सरकारें यथासंभव हड़तालोंको रोकनेके लिए सचेष्ट हैं, और पूँजीपतियोंपर दबाव डालकर मजदूरोंकी माँग पूरी करनेका प्रयत्न कर रही हैं। लेकिन, मजदूरोंकी माँग कहाँतक सीमित रह सकेगी ? ज्यों-ज्यों जीवनके साधनोंका अभाव होता जायगा त्यों त्यों उनकी माँग अधिकाधिक बढती जायगी और अन्तमें वह स्थिति उत्पन्न होगी कि सर्वस्व देकर भी उन्हें सन्तुष्ट नहीं किया जा सकेगा। अन्नपूर्णाका भण्डार रिक्त हो जानेपर लक्ष्मीकी स्वर्ण-राशि निष्प्रभ हो जायगी। जब बाजारमें आवश्यकताकी चीजोंका एकदम अकाल पड़ जायगा तब आर्थिक मूल्य निर्मूल्य हो जायगा। फलतः, सभी देशोंमें अराजकता फैल जायगी।

इस अवांछनीय स्थितिको रोकनेके लिए सरकारें उत्पादन बढानेपर जोर दे रही हैं। यदि कृत्रिम वैज्ञानिक तरीकोंसे उत्पादन बढा लिया गया और संसार पहिलेही की तरह युद्धोन्मुख बना रहा तो अधिक उत्पादनसे भला लाभ क्या होगा ! पिछले युद्धने अन्न, धन, जनकी जो आहुति ली उन्हींकी पुनरावृत्ति होने-से उत्पादनका सदुद्देश्य सफल नहीं हो सकता। उत्पादनकी उपयोगिता तभी

सिद्ध हो सकती है जब वर्त्तमान अकालसे निष्कृति पाकर उन गलत तरीकोको छोड़ दिया जाय जिनके कारण संसारकी इतनी दुर्गति हो गयी है।

आवश्यकता इस बातकी है कि औद्योगिक प्रणाली और विनिमयके माध्यम-में आमूल परिवर्तन किया जाय। यह तभी सम्भव है जब दृष्टिकोण आर्थिक नही, सामाजिक हो।

ससारकी दैनिक व्यवस्था ऐसे कृत्रिम माध्यम (आर्थिक माध्यम) पर अवलम्बित है कि उससे सद्भाव एव सामाजिक स्नेह नही उत्पन्न हो सकता। आज प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक राष्ट्र, राजनीतिक कानूनोसे वँधा हुआ केवल आर्थिक दस्यु है।

जिस आर्थिक माध्यमने मनुष्यको इतना असामाजिक वना दिया है, वार-वारके युद्धोसे उसे ही झटका लग रहा है ताकि वह टूटकर किसी सजीव माध्यमके लिए स्थान खाली कर दे। सजीव माध्यम मनुष्यकी सामाजिकताके भीतरसे स्नेह, सहानुभूति, सहयोग लेकर प्रकट होगा।

अवतक संसारमे अनेक युद्ध हुए, किन्तु कृत्रिम माध्यम टूटा नही; अव टूट जायगा, टिकेगा नही। अवतक इसलिए टिका हुआ था कि अवैज्ञानिक युगोके युद्धोसे ससारमें उतना अकाल नही फैला जितना आधुनिक वैज्ञानिक (यान्त्रिक) युद्धोसे कुछ वर्षोमे ही फैल गया, या, आगे कुछ दिनोमे ही वामन-डगकी तरह फैल जायगा।

जव अकाल फैलता है तव जिन्दगीकी चीजो (अन्न, जल, वस्त्र) का अभाव और धनका प्राचुर्य हो जाता है। इसीको मु द्रप्रसार कहते हैं। जव सरकारें वस्तुओंका अभाव पूरा नही कर पाती, तव मुद्राप्रसार करके आर्थिक शक्तिसे अपनी साख वनाये रखनेका प्रयत्न करती हैं। किन्तु वस्तुओका अकाल पैसेसे नही दूर हो सकता। पैसा कुछ दिनोतक वस्तुस्थितिको छिपा सकता है, यदि उतनी अवधिमे स्थिति नही सँभलती तो पैसा गति-रहित हो जाता है। पहिले महायुद्धके वाद जर्मनीमे ऐसा ही हुआ था। हजामत वनवानेके लिए लोग झोलोमे भर-भर कर कागजी नोट ले जाते थे लेकिन हज्जाम कहता कि नोट नही चाहिये,मुझे कोयला दो जिससे अगीठी सुलगा सकूं।

पहिले महायुद्धके वाद भी ससार अपनी पुरानी रफ्तारसे चलता रहा, क्योकि सभी देशोमें जर्मनी-जैसा अकाल नही फैला। लेकिन दूसरे महायुद्धके वाद प्रायः सभी देशोमे करीव-करीव एक-सा ही अकाल फैल गया है। जो देश अभी

अपेक्षाकृत धन-धान्य-सम्पन्न है वे अन्य देशोंकी भूख-प्यासकी आँचसे कबतक बचे रह सकेंगे !

धनाढ्य अमेरिका इस समय सभी अकालग्रस्त देशोंका साहूकार बना हुआ है। वह अपने राजनीतिक स्वार्थके लिए मुक्तहस्त होकर निर्धन राष्ट्रोंको ऋण दे रहा है। इस सहायतासे ससारका अकाल दूर नही हो सकता। सुकाल तभी आ सकता है जब सहायताका सदुपयोग रचनात्मक कार्य्यों मे किया जाय। लेकिन हम देखते है कि ससारने पिछले महायुद्धके परिणामोंसे कोई नया सबक नही लिया, वह अगले महायुद्धकी विध्वंसात्मक तैयारीमे लगा हुआ है। यदि ससार सर्वनाशपर ही तुला है तो तीसरे महायुद्धके विध्वसमे सभी सरकारोंकी आर्थिक अन्त्येष्टि हो जायगी।

तीसरे महायुद्धके बाद, आर्थिक माध्यमका महत्त्व समाप्त हो जानेके कारण, एक बार फिर सारे ससारमें विशृंखलता और आदिम बर्बरता फैल जायगी। जो चीजें पैसेसे मिलती थी वे न तो रहेगी न मिलेगी, अतएव जबर्दस्त लोग पशुओंकी तरह मनुष्योंको भी मारकर खा जायँगे।

तीसरे युद्धके बाद नरभक्षी युग आयेगा। यो तो युद्ध भी नर-भक्षण ही है, किन्तु वह वैध रूपमे है। जो अभी वैध है वही अवैध हो जायगा, अर्थात् नर-सहार अपने वास्तविक रूपमे प्रकट हो जायगा।

तीसरे महायुद्धके पहिले, जो देश यन्त्ररहित उद्योगोंसे अपनेको स्वावलम्बी बना लेंगे वे ही जीवनके मूल अकुरोंको महायुद्धके विनाशसे बचा सकेंगे। यन्त्र-रहित उद्योगोंपर ही युद्धोत्तर विश्वका भविष्य निर्भर है।

तीसरे महायुद्धमे मशीनोंकी इतनी खींच-तान होगी कि वे लड़ाईके काममें खप जानेके सिवा और किसी कामके लिए नही बच रहेंगी।

इस विकट वैज्ञानिक युगमें राजनीतिक शक्तियाँ बिना मशीनोंके उद्योगकी कल्पना भी नही कर सकती। लेकिन जिसकी हम कभी कल्पना नही करते वही सत्य होकर सामने आ जाता है। तीसरे महायुद्धमे मशीनोंके विध्वस्त हो जानेपर यन्त्र-रहित उद्योगोंको ही ससार सर्वदेश और सर्वकालके लिए उपयोगी पायेगा।

हड़तालोंके समय हम देखते है कि बिजली नही मिलती, पानी नही मिलता। मशीनोंके रहते यह हालत है ! जब मशीनें नही रहेंगी या किसी कारण फेल हो जायेंगी तब क्या हालत होगी !

आज यन्त्रोंके कारण हम जिस स्वावलम्बनको खो बैठे है वह उसीके लिए

तरसेंगे। हमारे देशको पुण्यश्लोक गान्धीजी यन्त्ररहित ग्रामोद्योगका अमोघ मन्त्र दे गये है। ग्रामोद्योगं मनुष्यके विस्मृत स्वावलम्वनका पुनर्जागरण है।

हमारे देशको ही नहीं, वल्कि संसारके किसी भी देशको वड़ी-वडी आर्थिक योजनाओं और वैज्ञानिक चमत्कारोकी आवश्यकता नही है। एकमात्र आवश्यकता स्वावलम्वी उद्योगो और सामाजिक सहयोगकी है।

तीसरे महायुद्धकी तहस-नहससे जो स्वावलम्वी राष्ट्र वच जायँगे वे युद्ध-की राखम सहकारिताके वीज वोयेगे। मानवताके अस्तित्वके लिए उनमे सामाजिक समझौता होगा, न कि व्यापारिक। सव अपनी-अपनी फटी वेवाईसे एक दूसरेके लिए सवेदनशील वनेगे। आदिम वर्वर युगका नर-भक्षी जन-समुदाय इसी तरह हिलमिलकर सामाजिक, कौटुम्विक एव कृषिजीवी प्राणी वना था।

युद्धोत्तर युगमें उस व्यापारिकताका अन्त हो जायगा जिसने मनुष्यको स्वार्थो का सौदागर और किरायेका टट्टू वना दिया है। नये युगका मानव सहृदय सामाजिक शिल्पी वनेगा।

हरिद्वार,
२१-६-४८

प्रत्यावर्त्तन : श्रम-धर्म्मकी ओर

राजनीतिके हाथोमे जाकर श्रम जडधातुओंका सिक्का बन गया है; सजीव श्रमका क्रय-विक्रय इसी निर्जीव माध्यम द्वारा होता है। सिक्केका अपना शास्त्र बन गया है—अर्थशास्त्र। राजनीतिक व्यवहारमे जिसे अर्थशास्त्र कहते है, व्यक्तिगत व्यवहारमें उसीका नाम स्वार्थ है। स्वार्थकी तरह ही श्रम भी विकृत हो गया है; उसमे सामाजिकता नही, व्यापारिकता है।

सिक्का—(जिसे रुपया-पैसा, पौण्ड, डालर, शिलिंग चाहे जो भी कहें)—अपने वर्तमान रूपमें 'प्रतिस्पर्द्धायुक्त आर्थिक व्यवस्था-जनित व्यवसायकी देन है।' यह पश्चिमीय अर्थशास्त्रका अनर्थ है। गान्धीजीके शब्दोंमें, पश्चिमीय अर्थशास्त्र "दावा तो करता है ऐसे अचल सिद्धान्त निकालनेका जो सब देशो और सब कालोपर घटित होते हों परन्तु वास्तवमे वह यूरोपके छोटे, ठंडे और खेतीके लिए कम अनुकूलतावाले देशोंके घनी आबादीवाले होते हुए भी, मुट्ठीभर लोगोंकी अथवा बहुत थोडी आबादीवाले उपजाऊ बडे खण्डोकी परिस्थितिके अनुभवके आधारपर ही बना है।...शास्त्रीय सिद्धान्तोंके नामपर इसके पोसे हुए वहम तथाकथित धार्मिक या भूत-प्रेतादिके अन्धविश्वासोंसे कम बलवान नही है।'

भारतीय अर्थशास्त्र

हमारा प्रचलित भारतीय अर्थशास्त्र पश्चिमीय अर्थशास्त्रका ही अनुदान है। हम लोग अपनी भारतीयतापर फूले नही समाते, लेकिन जबतक हमारा वर्तमान अर्थशास्त्र परतन्त्र है तबतक भारतीयता केवल एक विडम्बना है। पश्चिमीय अर्थशास्त्रकी दासतासे मुक्त होकर ही भारत अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व पा सकता है। अर्थशास्त्रका प्रभाव मनुष्यके रहन-सहन-जीवनपर पडता है। जब हम निजी अर्थशास्त्र अग्रसर करेंगे तभी जीवन बदलेगा, वातावरण बदलेगा अपनापन बढेगा।

ग्रामगुरु गान्धीजीके निर्देशानुसार, अर्थशास्त्र भारतीय तभी हो सकता है जब कि 'उसका विचार गाँवोकी दृष्टिसे किया गया हो। उसमे खेती और उद्योगका निकट सम्बन्ध हो, दोनो सामान्य रूपसे एक ही छप्परके नीचे रह सकते हों।'

एक लम्बे जमानेसे हम लोग स्वदेशीकी आवाज उठाते आ रहे हैं। स्वदेशी-का अर्थ वैदेशिक औद्योगिक प्रणालीका भारतीयकरण या अनुकरण नही, बल्कि अपने उद्योगोमें देशकी प्राकृतिक विशेषताओका मानवीकरण या स्वाभाविक पुरुषार्थ है। इसीलिए गान्धीजी कृषिके साथ खादीपर जोर देते थे। चरखे-करघेके बजाय मिलमात्रमे, चाहे वह देशी हो या विदेशी, भारतकी नैसर्गिक आत्मा व्यक्त नही हो सकती।

शुद्ध स्वदेशीके लिए गान्धीजीने कहा—"जरूरत तो आज ग्रामोद्योगोका सरक्षण करनेकी है, अर्थात्, खादी, गुड, देहाती शक्कर, हाथकुटा चावल, देहाती कागज, बैलके कोल्हूका तेल, देहाती मसाले, रीठा, दतौन, देहाती झाड़ू, चटाई, टोकरियाँ, रस्सी, जाजिम, चमडेकी चीजे इत्यादि देहातके सैकड़ो उद्योग जो प्रोत्साहनके अभावमे मर गये या मृतवत् जीवित है, उनका संजीवन करनेकी। यही सच्ची, सफल और 'सौ फीसदी' स्वदेशी है।"

आदान-प्रदान और उसका माध्यम

औद्योगिक महामारियोसे आक्रान्त वर्तमान भारतीय अर्थशास्त्रका काया-कल्प प्रकृतिके प्राण-केन्द्र गाँवोमे ही हो सकता है। वहीसे नागरिक जीवनका भी स्वस्थ सचालन हो सकेगा।

अपने स्वाभाविक रूपमे भारतीय अर्थशास्त्र ग्रामीण अर्थशास्त्र बन जायगा। यह अर्थशास्त्र सिक्केसे नही, श्रमसे चलेगा। श्रमसे श्रमके सहयोग अथवा वस्तु (श्रमोत्पादन) से वस्तुके आदान-प्रदानका व्यवहार चलाकर हम अर्थशास्त्र-को सामाजिक बना सकते है। शौककी चीजोको फालतू समझकर या तो छोड़ देगे या नीरस जीवनमे रसात्मकताका संचार करनेके लिए उनकी आवश्यकता होगी तो उन्हें अपने फुरसतके समय तैयार करके मित्रोको स्नेहोपहारके रूपमे भेट कर देगे। हमारा प्रयत्न यथासम्भव यह होगा कि आवश्यकताओको खरीद-फरोख्त या बाजारू मोलकी चीज न बनाकर उन्हे श्रम, सहयोग और सद्भावपूर्वक पूर्ण करेगे।

वर्त्तमान सर्वग्रासी अर्थशास्त्रके पूर्व, हमारे गाँवोमे ऐसा ही श्रम-सहयोग और सौहार्द था। वहाँ किसान, जुलाहा, नाई, धोबी, कहार, कुम्हार, राजगीर, बढ़ई, इत्यादि, श्रमके पारस्परिक आदान-प्रदानसे परिचालित थे, ये सभी परि-पूरक श्रमिक थ। ऐसा जान पड़ता था कि लोग एक ही बड़े परिवारके अन्योन्य

अंग है। लेकिन जब गाँवोमें भी वर्त्तमान अर्थशास्त्रका प्रवेश हो गया तब उस ग्रामीण संघटनका अंग-भंग हो गया। नगरोकी तरह ही अब वहाँ भी स्वार्थोकी खीच-तान होने लगी है। गाँवोकी सरलता समाप्त हो चली है।

गान्धीजीने कहा था—"हमारी आर्थिक व्यवस्थामें सिक्केका काम धातुसे नही लिया जायगा, बल्कि श्रम ही उसका काम करेगा। जिस किसीके पास श्रम होगा उसके पास सिक्का या धन मौजूद रहेगा। अपने श्रमके बदले वह अन्न-वस्त्र सब कुछ प्राप्त करेगा। यदि उसे पैराफिन तेलकी जरूरत होगी, जिसे वह पैदा नही कर सकता तो अपना अतिरिक्त अन्न देकर प्राप्त कर लेगा। हमारी व्यवस्थामें स्वतन्त्रतापूर्वक, ईमानदारीके साथ, बराबरीकी शर्त्तोपर श्रमका लेन-देन होगा, इसलिए इस व्यवस्थामें लूट या ठगीकी गुजाइश नही है। इस व्यवस्थापर यह दोषारोपण किया जा सकता है कि यह तो उसी प्रारम्भिक अवस्थापर लौटना हुआ जहाँ बदलैनसे काम होता था। लेकिन क्या समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसी बदलैनकी प्रथापर अवलम्बित नही है?"

जिन देशोमे अकाल फैला हुआ है वहाँ अभी धनद्वारा बाहरसे अन्न आ रहा है, लेकिन निकट भविष्यमें धनद्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव नही है। अर्थशास्त्रकी भाषामें जिसे आयात-निर्यात कहते है वही सामाजिक व्यवहारमे आदान-प्रदान हो जायगा। देश-देशके बीच श्रम-सहयोग अथवा वस्तु-विनिमयके रूपमे ही यह आदान-प्रदान चलेगा। एक देशमे जिस चीजकी कमी होगी उसे वह अपनी अधिक चीज देकर दूसरे देशसे ले लेगा।

जीवनकी अन्यान्य दिशाओंकी ओरसे मुँह मोडकर केवल धनके पीछे दौडनेवालोका नैतिक ह्रास देखकर हमने एक प्रसगमे कहा है कि यदि सरकार अन्नकी तरह धनपर भी कण्ट्रोल कर ले तो लोगोको अपनी जीवनीका परिचय अपने मनोविकाससे ही देना पड़ेगा। लेकिन अन्नका कण्ट्रोल भी तो एक प्रकारका आर्थिक कण्ट्रोल ही है, अन्न वस्त्रके सीमित परिमाणमें धनकी शक्ति भी कुछ हदतक सीमित हो जाती है। फिर भी लोगोका नैतिक विकास नही हो रहा है। कारण यह है कि जीवनका माध्यम अभी धन ही बना हुआ है, वह मनुष्यको सीधे श्रमके आधारपर सामाजिक प्राणी नही बनने देता।

चाहे अन्नका कण्ट्रोल करें, चाहे धनका, वर्त्तमान स्थितिमे उससे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। किसी अच्छे समयमें विषम आर्थिक व्यवस्थाको समेट लेनेके लिए यह एक क्रान्तिकारी प्रयास होता। सम्प्रति यह प्रयत्न किसी

निर्जल प्रदेशमें जलपर मीटर लगाने-जैसा है। यदि पम्पमें पानी न हो और आस-पाससे जरूरतके समय जल मिलनेकी पूरी सम्भावना न हो तो मीटर लगाकर लोगोंकी प्यास कैसे बुझायी जा सकती है! आवश्यकता तो जन-स्वावलम्बनको प्रोत्साहित करनेकी है। जलके लिए लोग कुआँ खोदे.अन्नके लिए खेत जोतें। लेकिन कुआ खोदनेसे क्या लाभ यदि जल बिकने लगे! जैसे जलका बिकना अस्वाभाविक जान पडता है वैसे ही अन्नका बिकना भी अस्वाभाविक जान पड़ना चाहिये। वर्त्तमान संकट तो इस अस्वाभाविकता(व्यापारिकता) के मार्गमे गत्यवरोध है। यही वह समय है जब कि इस अस्वाभाविकतासे निकलनेके लिए हम किसी स्वाभाविक सामाजिक निर्माणमें लग जायँ। उसी निर्माणकी ओर उन्मुख होनेके लिए सिक्केके बदले गान्धीजीने खादीपर सूतका प्रतिबन्ध लगाया था। इस सम्बन्धमें शिमला-प्रवासके समय उन्होने जो वक्तव्य दिया था, वह द्रष्टव्य है। उन्होंने कहा था—

"एक समय था जब गरीबोको अपनी आय बढ़ानेमे सहायता देनेके लिए खादीकी बिक्री बढाना हमारा उद्देश्य था। किन्तु इस बारके जेल-जीवनमें गहरा विचार करनेके बाद मुझे विश्वास हो गया है कि यदि खादीको स्वराज्य लानेका साधन बनाना है तो इसका क्षेत्र और अर्थ विस्तृत करना होगा। मैं अखिल भारतीय चर्खा-संघ-जैसी शक्तिशाली संस्था केवल खादी उत्पन्न करने और बेचने तथा आर्थिक सहायता देनेके लिए नही रख सकता, इसके लिए कोई अन्य धन्धा होना चाहिये। यदि अहिंसाके द्वारा स्वराज्य लाना है तो लाखो लोगोको अहिसा और स्वतन्त्रताकी दृष्टिसे खादीका पूरा अर्थ समझकर कातना होगा। इसका आरम्भ चर्खा-संघने खादीपर रुपयेमे दो पैसेका सूत माँगकर किया है। यदि मै विश्वास करा सकूँ तो पूरा मूल्य ही सूतके रूपमे देनेका आग्रह करूँगा। ..

...खादीके बदलेमे जो सूत दिया जाय वह या तो खरीददारका स्वयं काता हुआ हो या उनके परिवारके सदस्योका। अधिकसे अधिक चर्खा-संघ यह कर सकता है कि वह उनके उन नौकरोका काता हुआ सूत ले ले जिन सेपरिवारके सदस्यो—जैसा व्यवहार किया जाता हो। चोरबाजारसे खरीदे हुए सूतसे काम न चलेगा। यदि खादी-भण्डार भी खरीददारोंको सूत बेचने लगेगे तो इस नियमका उद्देश्य व्यर्थ हो जायगा।"

गान्धीजीने जिस सदुद्देश्यसे खादीपर दो पैसेके सूतका प्रतिबन्ध लगाया था उसका प्रतिपालन ठीक-ठीक नही हो सका। लोग खादी तो पहनते है लेकिन

उसे भी मिलके कपड़ोंकी तरह पैसोंसे ही पाना चाहते हैं। यदि मिलके बदले मध्यकाल-की तरह हाथसे कते-बुने कपड़ोंसे बाजार भर जाय तो इससे सामाजिक विषमतामें क्या अन्तर पड़ेगा ? खादी तो यन्त्रवादसे ही नहीं, बल्कि अर्थवादसे भी मुक्त कर श्रम-धर्म्मकी ओर अग्रसर करनेके लिए है ।

श्रम-धर्म्मको ही प्रतिष्ठित करनेके लिए गान्धीजी लेन-देनके बीचमे सिक्का हटाकर सूतका माध्यम चलाना चाहते थे । उनका कहना था कि, "सूत एक ऐसी वस्तु है जिसे सब लोग सहजमे उत्पन्न कर सकते है । जिसे अन्नकी जरूरत है वह दो-तीन घण्टे चरखा चलाकर अपनी आवश्यकताके लायक सूत तैयार कर सकता है । इस तरह वह स्वय अपना टकसाल-घर बन जाता है और अपने लिए वह सिक्का तैयार कर लेता है जिसके उपयोगसे वह अपनी सारी आवश्यकताकी पूर्ति कर लेता है ।"

नये सामाजिक निर्माणके लिए गान्धीजीके सुझावपर विचार किया जा सकता है । उनके अभीष्ट उद्देश्य (श्रम-विनिमय) के अनुकूल यदि कोई अन्य माध्यम निश्चित किया जा सके तो वह भी विचारणीय है । आदान-प्रदान चाहे वस्तुओके लेन-देनके रूपमे हो या किसी विशेष जीवनोपयोगी वस्तुके माध्यमके रूपमें, किसी भी समुचित साधनसे रुपये-पैसेका कृत्रिम माध्यम त्याग देना है ।

सांस्कृतिक दृष्टि

श्रममे ईमानदारी है, किन्तु सिक्केमे होशियारी भी हो सकती है । किसान जिस रुपयेके बदलेमे अन्न देता है वह रुपया निष्प्रयास प्राप्त किया हुआ भी हो सकता है। रुपयेमें प्रच्छन्न (न्यायानुमोदित) और प्रत्यक्ष (न्यायवर्जित) दस्युताकी गुंजाइश है । ऐसी स्थितिमे रुपयेसे श्रमका ठीक मूल्याकन नही हो सकता ।

रुपया-पैसा मनुष्यको परिग्रहकी ओर ले जाता है, वह स्वभावको स्वार्थ-सकीर्ण एव लोभी बनाता है । एकके सचयसे दूसरेका क्षय होता है । जिस रुपयेसे मृत मनुष्यको जिलाया नही जा सकता उसी रुपयेके अभावमें जीवित मनुष्यको मृत हो जाना पडता है ।

मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियोमें एक तो यो ही अहग्रस्त जन्तु है, तिसपर रुपया-पैसा उसके अहकारको और भी पुष्ट करता है । रुपये-पैसेमें उसे अपने क्षुद्र अहकारको सुरक्षित रखनेकी शक्ति मिलती है, इसीलिए वह उसका मोह नहीं छोड़ पाता । बड़ासे बड़ा दाता भी, जबतक धनपर अपना प्रभुत्व समझता है, इस

आत्ममोहसे आच्छन्न है। रुपया-पैसा बीचमे रखकर मनुष्यसे आत्मविसर्जनकी आशा करना दुराशा है।

किसी युगमे सिक्केका आविर्भाव अधिकाशके श्रमका शोषण कर कुछ कूटनीतिज्ञोके स्वार्थका पोषण करनेके लिए हुआ था। तबसे वह एक राजनीतिक रूढिके रूपमे चला आ रहा है। आज वह मानवताके मार्गमे एक अप्राकृतिक अवरोध है, इससे मनुष्यकी स्वाभाविक प्रगति रुक गयी है।

डाक्टर भारतन् कुमारप्पा कहते है—"क्या हमारे लिए यह उपयुक्त नहीं है कि हम इस अप्राकृतिक रुकावटको दूर कर दे और जहाँ तक सम्भव हो वस्तुओ या श्रमके बदलैनसे ही काम ले? हम इस फेरमे क्यो पड़े कि रुपयोके बिना हमारा काम नही चल सकता।

नकद रुपयोसे लोभकी मात्रामे वृद्धि होती है क्योकि उसे जमा करनेके लिए न तो बहुत जगहकी जरूरत पडती है और न उसके बर्बाद होने या घटनेका भय रहता है। लेकिन गल्ला जमा करनेके लिए उपरोक्त तीनो बातोकी परेशानी रहती है। मान लीजिये कि हमारे पास छ सन्तरे है, यदि हम यह चाहे कि चार तो आज खा ले और दो अगले सप्ताहके लिए रख छोडे तो यह सम्भव नही है। इसलिए जिसकी हमे जरूरत नही है उसे हम तुरन्त अपनेसे अलग कर देना चाहेगे। लेकिन रुपयेके साथ यह बात नही है। हम चाहे तो आज चार ही खर्च करे और दो बचाकर रख ले। इस दोका हम अपने इच्छानुसार मनमाना उपयोग कर सकते है या मरते वक्त अपने बाल-बच्चोको दे सकते है। इस तरह रुपयोको बटोरकर रखनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति जाग उठती है और लोग इकट्ठा करनेके लिए ही रुपया कमाने-के फेरमें पड़ जाते हैं। लेकिन बदलैनकी प्रथामें सम्पत्तिका बँटवारा कही उचित रीतिसे होता है। रुपयोसे सम्पत्तिकी पूजाकी प्रवृत्ति जागृत होती है और इस तरह प्रतिष्ठाका प्राकृतिक या गलत मापदण्ड समाजमे तैयार हो जाता है। लेकिन बदलैनकी प्रणालीमें सम्पत्तिका स्थान गौण रहता है, क्योकि उसका एकमात्र उद्देश्य मानवताका कल्याण होता है।"

सिक्केने मनुष्य-मनुष्यके बीच अविश्वास और विद्वेष फैला दिया है। सुख-दुखमें कोई किसीका भरोसा नही करता, इसलिए सिक्केको ही प्राणोकी तरह जुगोया जाता है। मनुष्य-मनुष्यके अविश्वास और आत्मलोभके ही पुर्न्तीकरण ये इतने बैंक और बीमा-कम्पनियाँ है।

क्यों नही हम किसी ऐसी व्यवस्थाका सूत्रपात करे जिससे मनुष्य-मनुष्यके

वीच स्नेह, सहयोग और सद्भाव बढे। यह तभी सम्भव है जब कि जीवनके साधन जल, वायु और प्रकाशकी तरह सबको सदैव सुलभ हो, उनके लिए न तो आजकी प्रतिद्वन्द्विता करनी पडे और न कलकी चिन्ता, प्रत्येक मनुष्य अपने जन्मके साथ ही पृथ्वीके आधारकी तरह समाजका भी आधार पा जाय। यह कैसी विडम्बना है कि इतना बडा ससार केवल हिंस्र पशुओंका जंगल जान पड़े और प्रत्येक मनुष्य आत्मरक्षाके लिए युग-युगोंकी विकृतियोंका उत्तराधिकार लेकर उत्पन्न हो! क्या यही सच है?—

'भयका दे पाथय प्रकृतिने
भेजा मनुज अपरिचित जगमें।'

प्रकृति तो सुख, श्री, सुषमाकी वरदायिनी है। उसका वरदान पानेके लिए उसीके अनुरूप उर्वर उद्यम और माध्यम चाहिये। ग्रामोद्योग एव ग्रामीण अर्थशास्त्र वही उद्यम और माध्यम है।

ग्रामोद्योगोंद्वारा जब मनुष्यका श्रम सार्वजनिक कर्म्मयोग बन जायगा और सामाजिक आदान-प्रदानके कारण जीवनके साधनोंके व्यक्तिगत संचयका लोभ नही रह जायगा तब आर्थिक प्रतिद्वन्द्विताका स्थान हार्दिक विकासको मिल जायगा, मनुष्य स्वभावत. अपरिग्रही एव अहिंसक हो जायगा। उस स्थितिमे अर्थशास्त्रका नूतन नामकरण करना पड़ेगा, श्रममें समष्टिकी उपलब्धिके कारण वह धर्म्मशास्त्र हो जायगा और कर्म्म-कौशलके कारण कलाशास्त्र। अभी तो अर्थशास्त्रके 'अर्थ' मे स्वार्थकी गन्ध है, हृदयकी कृपणता है।

आजकल जिसे श्रमजीवी कहते है उसके श्रममे आत्मीयता नही, विवशता है, वह व्यक्तिगत आवश्यकतासे बाध्य है। स्वाभाविक समाज-व्यवस्थामें जब वह अपनेको बृहत्तर परिवारका प्राणी समझने लगेगा तब हृदयका योग (अनुराग) हो जानेसे उसका श्रम अन्त.पुर (अन्तर्जगत) का गृह-शिल्प बन जायगा।

काशी,
४ अगस्त, १९४८

टाल्स्टायकी श्रम-साधना

सन्त, विचारक, कलाकार टाल्स्टाय रूसकी सम्पन्न श्रेणीके प्रमुख पुरुष थे। वैभवका विलास उन्हे सुलभ था। किन्तु उस विलासमे जब उनके कला-कोमल प्राणोको प्राणियोके शोषणका अनुभव हुआ तब वे उस तामसिक जीवनसे खिन्न हो गये। आत्मनिरीक्षण और आत्ममन्थन करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, "यदि हम जीवन-संघर्षमे भाग न लेकर अर्थात् स्वयं श्रम न करके दूसरोकी मेहनत-पर जीवित रहते है तो यह हिंसा है।" इस दृष्टिसे समाजके वे सभी वर्ग हिंसक है जो वर्तमान आर्थिक आधारपर आश्रित है अर्थात् पैसेसे श्रमका उपभोग करते है। उनके इस आर्थिक उपभोगके लिए न जाने कितने बूढो, बच्चो और गर्भिणी स्त्रियोंको विवश होकर काम करना पड़ता है। हिंसा-रहित जीवनके लिए टाल्स्टाय-को यह प्रेरणा मिली कि, 'खुद ही अपना पानी भरो, खुद ही चूल्हा जलाओ, खाना पकाओ और खुद ही कपडे धोओ।' इस प्रेरणाके अनुसार उन्होने अपने जीवनको जो निर्माण दिया उसी निर्माणमे समाजकी वर्ग-हीन मानवता है।

'समाजकी वर्त्तमान विषमतामे अकेला आदमी क्या कर सकता है?'— इस प्रश्नके उत्तरमे टाल्स्टाय कहते है—"मै किसी जगली जातिमे जाऊँ और वहा लोग मुझे सुस्वादु मांस खानेको दे किन्तु दूसरे दिन मुझे मालूम हो अथवा मै स्वयं अपनी आँखोसे देखूं कि यह स्वादिष्ट चीज आदमीके मासकी बनी हुई है और एक कैदीको मार कर बनायी गयी है तो वे मांसके टुकड़े खानेमे चाहे कितने ही स्वादिष्ट मालूम हो और जिन लोगोमे मै रहता हूँ उनमे मनुष्यका मास खानेका कितना ही अधिक रिवाज हो, मै उन टुकड़ोंको कभी न खाऊँगा, इसे वे खाये ही न जायँगे।"

टाल्स्टायका अभिप्राय यह है कि जो सभ्य समाज अभी जंगलीपनसे ऊपर नही उठ सका है उसकी बीभत्सतामें सहयोग न देकर एक व्यक्ति भी मानवताकी शुद्ध इकाई बन सकता है।

आत्मप्रयोग

श्रम-स्वावलम्बनकी दिशामें टाल्स्टायने जो आत्मप्रयोग किया वह बुद्धिजीवियोंके लिए एक दृष्टान्त है। टाल्स्टाय भी बौद्धिक कार्य करते थे। उनके सामने बौद्धिक और श्रमिक कर्तृत्वका जो द्वन्द्व उपस्थित हुआ उसके सम्बन्धमें वे कहते हैं—"मेरे मनमें यह प्रश्न उठा कि इस प्रकार सब काम हाथसे करनेमें मेरा सारा समय तो न चला जायगा? और इस प्रकार मैं उस मानसिक प्रवृत्तिसे वंचित तो न हो जाऊँगा जो मुझे पसन्द है? इसका उत्तर जो मुझे मिला उसकी तो मैंने कभी आशा ही न की थी। शारीरिक श्रमकी मात्राके अनुसार मेरी मानसिक शक्ति बढ़ गयी।

. . . मैं आठ घण्टे शारीरिक श्रम करने लगा। इससे पहले यह समय मैं मन बहलानेमें व्यतीत करता था। फिर भी मेरे पास आठ घण्टे बचते थे और उनमें भी मानसिक कामके लिए मुझे तो केवल पाँच ही घण्टे चाहिये थे। हिसाब लगानेपर मालूम हुआ कि चालीस वर्षतक और कोई काम न करनेकी हालतमें भी मेरे जैसे धनी लेखकने कुल मिलाकर पाँच हजार छपे हुए पृष्ठ लिखे थे। अब यदि मैंने इन चालीस वर्षोंतक दूसरे मजदूरोंके साथ हर रोज आठ घण्टे काम किया होता और सर्दीकी सन्ध्या और छुट्टीके दिनोंको छोड़कर रोज पाँच घण्टे पढ़नेमें व्यतीत किये होते और केवल छुट्टीके दिनोंमें केवल चार पृष्ठ रोजानाके हिसाबसे लिखे होते तब भी पाँच हजार पृष्ठ चौदह वर्षमें लिख सकता था।

. . . मैं मेहनत करनेका अभ्यासी नहीं हूँ, इसलिए दूसरोंकी सेवा करनेके लिए जितने श्रमकी जरूरत होती है उससे मेरे स्वास्थ्यको हानि तो नहीं पहुँचेगी? यह भी एक प्रश्न था, किन्तु मैंने देखा कि जितना ही अधिक श्रम करता उतना ही अधिक अपनेको स्वस्थ और प्रसन्न पाता, हालाँकि बड़े-बड़े डाक्टरोंने मुझसे यह कहा था कि कठोर शारीरिक श्रम बुढ़ापेमें स्वास्थ्यके लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होगा।'

कृत्रिमता

टाल्स्टायने श्रमिकजीवनका आदर्श किसानोंसे प्राप्त किया था। कृषिजीवनकी स्वाभाविक सतहपर पहुँचकर टाल्स्टायको सभी आधुनिक प्रयास अस्वाभाविक और निरर्थक जान पड़े। उन्होंने कहा—"मानव-समाजकी सेवाके नामपर जो अनेक नयी-नयी बातें हो रही हैं—जैसे, समाचारपत्र, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ,

उपन्यास, नाटक, संगीत, नाच-पार्टी और जलसे आदि—ये सब मनुष्यके जीवनको स्वाभाविक स्थितिसे दूर ले जाकर उसे सजीव बनाये रखनेके धूर्ततापूर्ण उद्योग हैं। . . . हमने अपने जीवनको मनुष्यके नैतिक और शारीरिक स्वभावके विरुद्ध बना रखा है और फिर हम अपनी बुद्धिका सारा जोर लगाकर मनुष्योंको यह विश्वास दिलानेकी कोशिश करते हैं कि यही जीवन सच्चा है। हम आज जिसे सभ्यता कहते हैं वह धोखा देनेका एक साधन है। विज्ञान और कला, जो जीवनके आनन्दमें वृद्धि करनेका दावा करते हैं, वास्तवमें मनुष्यके नैतिक जीवनको पंगु बनानेके साधन हैं और आरोग्यशास्त्र मनुष्यको स्वाभाविक शारीरिक धर्म्ममें वंचित रखनेके ढंग हैं, इसके सिवा और कुछ नहीं। किन्तु इन सब प्रवंचनाओंकी भी एक सीमा होती है और हम उस सीमापर पहुँच गये हैं।"

आज मानव-समाज सीमाका उल्लंघन करके पतनके अतल गर्त्तमें चला गया है। उसे उबारनेके लिए तरह-तरहके आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक उपाय किये जा रहे हैं लेकिन बुनियादी दृष्टिके अभावमें असफल हो रहे हैं। टाल्स्टायकी बुनियादी दृष्टि श्रम-धर्म्मकी ओर है।

श्रेणिसंघर्ष

यह श्रेणिसंघर्षका युग है। संघर्ष इसलिए हो रहा है कि एक श्रेणी श्रमिक है, दूसरी श्रेणी वणिक है। संघर्षका आधार श्रम नहीं, सम्पत्ति है। इस तरह श्रेणिसंघर्ष केवल आर्थिक संघर्ष बन गया है। उसमें कोई मौलिक सामाजिक चेतना नहीं है। स्त्री-पुरुषके समानाधिकार-आन्दोलनकी तरह ही यह वर्ग-संघर्ष भी स्वार्थमें संकीर्ण है। टाल्स्टायके शब्दोंमें, आधुनिक शिक्षा-प्राप्त स्त्रियाँ कहती हैं—"तुम मर्दोंने अपने सच्चे श्रम-धर्म्मको छोड़ दिया है और यह चाहते हो कि हम लोग अपना बोझा ढोती रहें। मगर नहीं, यदि यही बात है तो हम भी बैंकों, मन्दिरों, विश्वविद्यालयों आदि संस्थाओंमें काम करके तुम्हारी ही तरह श्रमका ढोंग रचेंगी। सच्ची बात यह है कि हम भी तुम्हारी तरह श्रम-विभागके बहाने दूसरोंकी मेहनतसे लाभ उठाना चाहती हैं और केवल वासना-तृप्तिके लिए जीना चाहती हैं।"—क्या इसी तरह श्रमिक समुदाय भी नहीं बोल रहा है?

आधुनिक शिक्षा-प्राप्त विलासिनी नारीके सम्बन्धमें टाल्स्टाय कहते हैं—"वह तो एक ऐसी स्त्री है जो पुरुषद्वारा भ्रष्ट की गयी है और भ्रष्ट पुरुषके दर्जेको पहुँच गयी है।" यही बात उन श्रमिकोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है जिन्हें

वणिकोंने भ्रष्ट कर दिया है और अब वे उनकी भ्रष्टताके उत्तराधिकारी बन जाना चाहते हैं।

श्रम-विभाग

टाल्स्टायकी दृष्टिसे इस श्रेणिसंघर्षका कारण कृत्रिम श्रम-विभाग है। कोई पैदा करे, कोई खाये, कोई गाये,' इस प्रकारके श्रम-विभागसे श्रेणिभेद उत्पन्न होता है। टाल्स्टाय श्रमको श्रेणियोंमें नही,बल्कि प्रत्येक व्यक्तिकी दिनचर्य्यामें विभक्त करते है। वे कहते है—"प्रत्येक आदमीका दिन खानेके हिसाबसे चार पहरोंमें विभक्त हो सकता है। पहला भाग नाश्तेसे पूर्व, दूसरा दोपहरके भोजनतक, तीसरा तीसरे पहरके टिफनतक और चौथा रात्रिके भोजनतक। मनुष्यकी स्वाभाविक वृत्ति भी चार भागोंमें विभक्त की जा सकती है—पहले तो शारीरिक श्रम अर्थात् हाथ-पैर, पीठ और कन्धोंके द्वारा कसकर मेहनत करना जिससे पसीना आ जाय, दूसरे अँगुलियों और कलाईका काम अर्थात् कला-कौशल-सम्बन्धी काम, तीसरे बुद्धि और कल्पनाका काम, चौथे अन्य लोगोंसे बातचीत करनेका काम।

आदमी जिन चीजोंका इस्तेमाल करता है वे भी चार भागोंमें बाँटी जा सकती है—(१) प्रत्येक मनुष्य कठोर श्रमद्वारा उपार्जित पदार्थोंका उपयोग करता है, जैसे, रोटी, मकान, कुआँ, जल, आदि। (२) हुनर-उद्योग द्वारा बने हुए पदार्थ—कपडे, बर्तन, जूते, टोपी इत्यादि। (३) मानसिक प्रवृत्तिकी उपज, जैसे, विद्या और कला। (४) मनुष्योंके ससर्गमें आना, जैसे, मित्रता बढ़ाना, सभा आदिमें जाना।

. . . मै सोचता हूँ, कामको इस प्रकार बाँटना ठीक होगा जिससे मनुष्य अपनी चारों तरहकी शक्तियोंको उपयोगमें ला सके और चार प्रकारकी चीजोंका जो व्यवहार करता है वह भी स्वयं बनाकर बदलेमें दूसरोंको दे सके। इस दृष्टिसे समय-विभाग इस प्रकार किया जाय—पहले पहर कठोर शारीरिक श्रम, दूसरे पहर मानसिक श्रम, तीसरे पहर औद्योगिक कार्य्य, चौथे पहर सन्त और सज्जन पुरुषोंका समागम। अच्छा हो यदि मनुष्य इस प्रकार अपने समयको बाँट कर काम करे। किन्तु यदि यह असम्भव हो तो एक बात जरूरी है—मनुष्य परिश्रमके कर्तव्यको पहचाने और यह समझे कि दिनके प्रत्येक भागका उचित उपयोग करना उसका धर्म्म है।"

टाल्स्टाय श्रमको मुख्यत पोषक रूपमें लेते है। केवल स्वास्थ्य-सुधारके

लिए किया गया श्रम पोषक नहीं, व्यायाममात्र है। व्यायामके रूपमे किया गया श्रम केवल एक शरीरको पुष्ट करता है, पोषक श्रम सारे समाजको।

आजकल जिसे उत्पादक श्रम कहा जाता है, टाल्स्टाय उसे पोषक रूपमे देखना चाहते हैं, जो पोषक नहीं है वही तो शोषक है। पोषक श्रमके लिए टाल्स्टा-यने किसानोपर जोर दिया है। इसीके अगल-बगल रखकर अन्य श्रमोको उन्होने उपयोगिताकी कसौटीपर कसा है। अपनी कसौटीपर उन्होने पण्डित, पुरोहित, परिव्राजक, अध्यापक, कवि, कलाकार, वैज्ञानिक सैनिक, राजनीतिज्ञ इत्यादि उन सभी समुदायोको समाजके लिए भार माना है जिनके श्रमका सीधा सम्बन्ध पृथ्वीसे नही है। उनका कहना है कि अन्य श्रमोकी सार्थकता तभी है जब समाज-के मूलस्तम्भ कृषक-समुदायपर उनका अनुचित भार न पडे। टाल्स्टाय अन्य श्रमिको-की भी आवश्यकता स्वीकार करते हैं किन्तु उनकी शर्त्त यह है कि अन्य श्रम समाज-की आवश्यकताके अनुसार हो, न कि अन्य श्रमोके लिए आवश्यकताएँ समाजपर लादी जायँ।

टाल्स्टाय एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते है कि मुख्य श्रमके साथ अन्य श्रमोका क्या सम्बन्ध है—

"कल्पना कीजिये कि कुछ लोग कृषि करके अपना निर्वाह कर रहे है, जैसा कि हर किसीको करना चाहिये। इसी बीचमे एक आदमीने लोहारकी भट्ठी बनाकर अपने हलकी मरम्मत की। उसका पडोसी आया और उसने भी अपने हलकी मरम्मत करनेके लिए उससे कहा और बदलेमे कुछ नाज या पैसे देनेका वादा किया। दूसरा भी यही प्रार्थना लेकर आता है और यह सिलसिला जारी हो जाता है। इस प्रकार इस समाजमे श्रम-विभागके एक रूपकी स्थापना हो जाती है; एक आदमी लोहार बन जाता है।

.....दूसरे आदमीने अपने बच्चेको अच्छी शिक्षा दी है। उसके पडोसी अपने बच्चोको लाकर पढानेका अनुरोध करते है और इस प्रकार उस गाँवमे वह शिक्षक बन जाता है। किन्तु ये लोहार और शिक्षक बने ही केवल इसलिए कि समाजको उनकी जरूरत है और वे केवल उसी समयतक रहते है कि जबतक समाज-को उनकी जरूरत रहती है। यदि ऐसा हुआ कि बहुतसे लोहार या शिक्षक पैदा हो गये, या, अब उनकी लोगोको जरूरत न रही, तो साधारण विवेक-बुद्धिके अनुसार वे अपना पेशा छोड़ देते हैं और फिर पहले ही की भाँति किसान या मजदूर बन जाते है। ऐसा हमेशा और हर जगह हुआ ही करता है, जबतक कि उचित श्रम-विभागके

नियमोंके भंग होनेका कोई कारण नहीं होता। और यह श्रम-विभाग उचित भी है। किन्तु यदि ऐसा हो कि लोहार यह समझकर कि वह दूसरे लोगोंको अपने लिए काम करनेको बाध्य कर सकता है, ऐसी हालतमें भी घोड़ेकी नालें बनाना जारी रखे जबकि उनकी कोई जरूरत न रह गयी हो, या, शिक्षक विद्यार्थियोंके अभावमें भी यही इच्छा करे कि मैं तो पढ़ानेका ही काम करूँगा, तो प्रत्येक विवेकशील निष्पक्ष मनुष्य साफ कह देगा कि यह सच्चा श्रम-विभाग नहीं है यह तो दूसरोंके श्रमको हड़पनेका ढोंग है।"

टाल्स्टायका अभिप्राय यह है कि मुख्यश्रम (कृषि) सबके लिए अनिवार्य हो, अन्य श्रम मुख्यश्रमके परिपूरक हो बाधक नहीं। जब सभी लोग उत्पादक या पोषक श्रममें लग जायेंगे तब अन्य श्रम आजीविकाके लिए पेशा नहीं, बल्कि समाजके सहायक उद्यम बनेंगे। मुख्य श्रम करते हुए भी मनुष्य सहायक उद्यम कर सकता है, इसी लिए गान्धीजीने कृषिके साथ चर्खेको जोड दिया। वर्तमान नागरिक स्थितिमें समयाभाव अथवा किसी अन्य कारणसे यदि श्रमिक-विभाग आवश्यक हो तो चर्खा चलाकर भी हम मुख्य श्रमकी ओर उन्मुख हो सकते हैं। चर्खा उपलक्ष्य है मुख्यलक्ष्य (कृषि) तक पहुँचनेके लिए।

वर्तमान युगकी विडम्बना यह है कि मुख्य उद्यमका स्थान सहायक उद्यमोंने ले लिया है, इसलिए श्रम सामाजिक न होकर व्यापारिक हो गया है। व्यापारिक प्रतिद्वद्विताके कारण आवश्यकतासे अधिक माल तैयार किया जाता है। और जब तैयार मालकी खपत लोगोंमे नहीं हो पाती तो व्यापारिक (आर्थिक) स्वार्थके लिए संघर्ष छिडता है, तैयार माल युद्धोंमे खपता है। जनता धन-रहित हो जाती है व्यापारी धनवान हो जाते हैं।

टाल्स्टाय कहते हैं—"यदि हमारा उद्देश्य यह होता कि अधिकसे अधिक संख्यामें जूते और कपडे तैयार किये जायें तब तो अवश्य ही इसे लाभदायक कहा जा सकता था, किन्तु हमारा उद्देश्य तो मनुष्योंको बनाना है। वास्तवमें आनन्द जीवनमें है और जीवन है श्रममें।"

टाल्स्टाय समाजको उस स्वाभाविक अवस्थामें देखना चाहते थे जिसमें श्रम व्यवसाय नहीं, अध्यवसाय है। निर्जीव पेशा नहीं, सजीव साधना है। श्रमको समाज जब इस रूपमें अपनायेगा तभी उसमें 'योग कर्मसु कौशलम्' का सौन्दर्य प्रस्फुटित होगा।

टाल्स्टायके वाद

टाल्स्टाय उस समुद्री पक्षीकी भाँति दूरदर्शी प्राणी थे जो तूफान आनेके पहिले ही अग-जगको सजग करता हुआ समुचित दिशामे चल पडता है। टाल्स्टायके वाद रूसमे वडे जोरोसे श्रमिक आन्दोलन उठ खडा हुआ और जन-क्रान्तिके ज्वारने जारकालीन व्यवस्था विलुप्त हो गयी। नयी व्यवस्था समाजवादी वन गयी। लेकिन, इससे उस अहिंसक समाजकी स्थापना नही हो सकी जिसकी शुभकामना टाल्स्टाय करते थे।

समाजवादी रूसका समाज राजनीतिक है, शुद्ध सामाजिक नही। इसका कारण सामाजिक स्वरूपके सम्वन्धमे उसकी सकुचित दृष्टि और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति है। मजदूरोद्वारा रूसकी क्रान्ति मुख्यत आर्थिक दृष्टिकोणमे हुई थी,अतएव श्रममे वह सौहार्द नही आ सका जिससे समाज वनता है। जहाँ श्रममे स्वार्थ है, स्नेह नही, साधना नही, वहाँ समाज वर्गोंमे ही सिमटकर रह जाता है, वह प्रशस्त नही हो पाता। यदि अभ्यन्तरमें विकार वना हुआ है तो वर्ग-विशेषके अधिकारसे स्थितिमे मौलिक अन्तर नही पडता फिर भी रूसका प्रयोग एक नये इतिहासका प्रारम्भ है, वह सदियोकी पुञ्जीभूत अकर्म्मण्यतापर प्रहार करता है।

टाल्स्टाय जिस समाजकी कल्पना करते थे वह ग्रामीण व्यवस्थासे ही सजीव हो सकता है। परिस्थितियाँ मनुष्यको इसी ओर अग्रसर कर रही है। 'अधिक अन्न उपजाओ' की आवाज भविष्यका सकेत करती है। ग्रामीण व्यवस्थामे ही मानवमात्रका सर्वोदय है। जव सभी कृपिजीवी होकर पृथ्वीके भीतरसे जीवन अकुरित करेगे तव उसीके अनुरूप उनके अभ्यन्तरमे सद्वृत्तियोका भी प्रस्फुटन होगा।

गोस्वामी तुलसीदासने कहा है—

> कृषी निरावहि चतुर किसाना।
> जिमि वुध तजहि मोह, मद, माना ॥

यह केवल कविका आलकारिक कथन नही है, इसमें जीवन-निर्म्माणकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।

टाल्स्टायके वाद श्रम-चेतनाका जागरण भारतमे भी हुआ। रूसकी जन-क्रान्ति मजदूरोद्वारा हुई थी, गान्धीजीने किसानो-द्वारा अपने मौलिक (आभ्यन्तरिक) आदर्शकी ओर वढनेका प्रयत्न किया। उन्होने श्रममे अन्त शुद्धिका सयोग करके उसे सास्कृतिक यज्ञ वना दिया।

आश्रम

जो लोग रूसकी जन-क्रान्तिसे प्रभावित हैं वे श्रमको राजनीतिक दृष्टिसे ही देखते हैं। उनके श्रममें संस्कृति (आत्मपरिष्कृति) नहीं है। जिसे वे बुर्जुआ-संस्कृति कहते हैं उस संस्कृतिमें श्रम सामाजिक साधना है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह एकाकी हो, गृहस्थ हो वानप्रस्थ हो संन्यासी हो अपने आपमें एक आश्रम है।

आश्रमोंका सम्पर्क प्रकृतिसे है। वे श्रम-पूर्वक प्रकृतिके साथ हैं, 'आश्रम' शब्दमें यही अर्थ गर्भित है। आज भी हम देखते हैं कि आश्रमोंकी स्थापना प्रकृतिके खुले आँगनमें ही की जाती है, किसी सँकरे कल-कारखानेमें नहीं। नगरोंमें जहाँ बड़े-बड़े कारखाने और गगनचुम्बी प्रासाद हैं वहाँ श्रम अनुर्वर रह जाता है। जहाँ श्रम उर्वर नहीं बनता वहींसे शोषण और स्वार्थका प्रारम्भ होता है। वातावरणका प्रभाव मनुष्यके मनपर पड़ता है मुक्त प्रकृतिके सम्पर्कमें उसीके अनुरूप मनोविकास होता है, मनुष्यका स्वभाव संवेदनशील और वदान्य बनता है।

हरिद्वार
२५।६।४८

साहित्यिक संस्थाओंका गन्तव्य

गत महायुद्धके वाद हमारे देशमे दो चीजोकी भरमार हो गयी—एक तो संस्थाओकी, दूसरे, पत्र-पत्रिकाओकी। इनका प्रादुर्भाव क्या किसी स्वस्थ जागृतिका द्योतक है?

दूसरे महायुद्धके वाद वस्तुओका तो अकाल पड़ गया, किन्तु भ्रष्टाचारके कारण धनका वाहुल्य हो गया। धनके अतिरेकमे निराधार वुद्धिजीवियोका भी आर्थिक विस्तार हुआ, ये इतनी पत्र-पत्रिकाएँ और संस्थाएँ इसी वातकी सूचना देती है, न कि किसी मानवीय विकासकी।

रचनात्मक क्षेत्र

साहित्यिक सस्थाओका हम स्वागत करते है। लेकिन उनकी सार्थकता सस्थाओकी सख्या वढानेमे नही है। उन्हे तो इस निष्प्राण युगको जीवन देनेके लिए स्रोतस्विनी वन जाना चाहिये।

आजके अकालयुगमे जो जीवन सूख गया है उसका उत्स महात्मा गान्धीके रचनात्मक कार्य्योमे है।

रचनात्मक कार्य्य निरर्थक राजनीतिक प्रपञ्चोकी समाप्ति और मनुष्यके स्वावलम्वी सामाजिक प्रयत्नोके पुनर्जन्मका सूचक है।

साहित्यका जन्मस्थान भी वही रचनात्मक क्षेत्र है जहाँसे लोकगीतो और दन्तकथाओका कण्ठस्वर सुनायी पडता है। वहाँ जीवन ही साहित्य है। उस मौलिक क्षेत्रसे विच्छिन्न होकर जो साहित्य केवल शाब्दिक है, जीवन्त नही, वह उत्स-रहित उत्सवकी तरह है · मृगजल है।

'युगवाणी' मे कविने कलाकारोमे कहा है—

सत्य वनाओ, हे,
मेरे मनके स्वप्नोको
सत्य वनाओ।

आज स्वप्नको सत्य,
सत्यको स्वप्न वना नव सृष्टि वसाओ।

आज ज्ञानको कर्म्म,
कर्म्मको ज्ञान बना भवमूर्त्ति सजाओ।
निखिल विश्वको व्यक्ति
व्यक्तिको विश्व बना जग-जीवन लाओ।
सत्य बनाओ, हे,
मेरे जीवन-स्वप्नोंको
सत्य बनाओ।

आज अखिल विज्ञान, ज्ञानको
रूप गन्ध, रसमें प्रकटाओ।
आत्माकी नि:सीम मुक्तिको
भवकी सीमामें बँधवाओ।
जनकी रक्त-मांस इच्छाको
मधुर अन्न-फलमें उपजाओ।
सत्य बनाओ, हे,
मानव उरके स्वप्नोंको
सत्य बनाओ।

कविकी इस आकांक्षाको उसी प्राकृतिक भूमिसे जीवनका आधार मिल सकता है जहाँकी जलवायु और मिट्टीमें सृष्टिके अंकुर फूटते हैं। उसी धरतीकी जीवनी शक्ति बनाये रखनेके लिए गान्धीका ग्रामोद्योग (स्वावलम्बी कर्म्मयोग) है।

जबतक वर्तमान विश्वव्यापी अकाल अदृष्टमें अदृश्य था तबतक जीवनके साधनोंमें निश्चिन्त होकर हम ग्रामोंके प्रति केवल सहानुभूतिपूर्ण थे। अब कोरी सहानुभूति आत्मविडम्बना है। सभीकी स्थिति तो एक-सी दयनीय हो गयी है। जिन्हें कल हम सहानुभूति देते थे आज उनकी समस्या हमारी भी समस्या बन गयी है।

पूँजीपति जो कि अब भी आत्मप्रवञ्चना कर रहा है, उसे उसके भाग्यपर छोड़ दें। अन्यान्य वर्गोंकी समस्या वर्गोंकी तरह अलग-अलग नहीं है। किसान, मजदूर, साहित्यकार सबकी समस्या एक है। अपनी प्राथमिक आवश्यकताओंमें सभी वर्ग सर्वसाधारण-मानव हैं अतएव सबकी सामाजिक समस्या एक ही कर्म्म-मार्गसे हल हो सकती है।

साहित्यकार भी इस पृथ्वीपर रहता है। जिस हाथसे वह लेखनी पकड़ता

है उस हाथमे वह खाना भी खाता है। यदि उसका हाथ केवल लेखनी पकडनेके लिए नही है तो उसे भी पृथ्वीके प्रति अपने श्रम-धर्म्मका परिचय देना चाहिये,अपने श्रममे किसानोकी तरह पृथ्वीका औरस-पुत्र बन जाना चाहिये। बुद्धिजीवी वर्गके लिए साहित्य लिखना ही साहित्यकारका एकमात्र कर्तव्य नही है।

इस आर्थिक अव्यवस्था (राजनीतिक विफलता) के युगमे प्रत्येक वर्ग विशेष सुविधा पा जानेके लिए दलबन्दी कर रहा है। एक वर्गके विशेष सुविधा पानेके प्रयत्नका परिणाम होगा किसी अन्य वर्गको जीवनसे वञ्चित कर देना। पूँजीवादी शोषणकी तो शिकायत की जाती है लेकिन वर्ग-स्वार्थके रूपमे सभी लोग परस्पर शोषणकी ही प्रतिस्पर्द्धा कर रहे है।

जबतक आमूल परिवर्त्तन नही हो जाता तबतक सरकारोकी टकसाल और वैभवशालियोका खजाना सदियोके शोषणका रक्तकुण्ड है। वर्त्तमान आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा उसी रक्तकुण्डसे अधिकाधिक रक्तपान कर लेनेके लिए है।

क्या साहित्यकार भी इस हिंसापूर्ण बर्ब्बर प्रतिस्पर्द्धामे शामिल हो जायगा? यदि वह सहृदय है तो यह हृदय-हीन निर्म्मम प्रतिस्पर्द्धा कैसे देख सकता है! वह तो अपनेको मिटाकर भी जीवनके स्वस्थ प्रयत्नोमे सहयोग देगा।

एक दिन अपने चारो ओरके वातावरणसे खिन्न होकर गोर्कीने मर्म्माहत हृदयसे प्रश्न किया था—'कवि, गाडीवान, कुत्ता (और नेता!) क्या ये सभी एक ही उपादानसे बनते है?'—आज यही प्रश्न हमारे सामने भी है। यदि इस विकृत युगकी अधम श्रेणियोमे ही सीमित नही रहना है तो साहित्यकार और उनकी साहित्यिक सस्थाएँ इसका उत्तर साहित्यकी शाब्दिक रचनासे नही, बल्कि जीवनकी सक्रिय रचनासे दे सकती है।

नयी पीढीका युवक-समाज बडे ध्यानसे साहित्यिको और साहित्यिक संस्थाओकी गति-विधि देख रहा है। उसके मर्म्माहत हृदयमे यह उच्छ्वास निकल पडता है—'दिन-प्रतिदिन मानव-जीवन कष्टकर होता चला जा रहा है, स्वतन्त्र युगका कलाकार भी आज मानव-जीवनको उसका असली स्वरूप प्रदान नही कर पा रहा है।'—(साहित्यकी एक तरुण श्रमजीवी प्रजाके पत्रका अश।)

हमे यह कहते हुए खेद होता है कि प्रतिक्रियावादी साहित्यिक और उनकी सस्थाएँ भाषाके नामपर केवल साम्प्रदायिक द्वन्द्व कर रही है। उन्हे जीवनकी रचनात्मक दिशामे उन्मुख होना चाहिये।

ग्रामोद्योग सभी रचनात्मक कार्य्योका प्राण है। इसमे धनका स्थान श्रम-

सहयोगको मिल जानेके कारण मनुष्यका श्रम अमृत बन जाता है, उस हिंसाका अन्त हो जाता है जिसने कोषागारोंको रक्तकुण्ड बना दिया है।

ग्रामोद्योगमें आत्मदान देकर ही मनुष्य अन्य कार्य्योंमे निर्म्मल रह सकता है। अन्य कार्य्य ग्रामोद्योगके ही निर्म्माल्य हैं॥

हम सभीकी साँस शोषणपूर्ण वातावरणसे दूषित है। उसका प्रायश्चित्त श्रमको पोषक बनाकर ही किया जा सकता है। आन्तरिक स्वास्थ्य (अन्त शुद्धि) के लिए यह आवश्यक है कि केवल संस्थाएँ ही नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी दिनचर्य्यामें असन-वसनकी तरह रचनात्मक कार्य्योंको भी स्थान दे।

संस्थाओंके स्वावलम्बनके लिए ग्रामोद्योग अनिवार्य है। यदि संस्थाओंका सञ्चालन धनिकोंके दान और सरकारके आर्थिक सहयोगसे ही होता है तो उनकी नैतिकता सन्देहास्पद है। इस प्रकारके अनुग्रहसे अनुगृहीत होकर हम उनके दूषणो-से मुक्त नहीं हो सकते। आश्रयके अनुकूल ही आश्रितकी गति-मति बन जाती है।

गान्धी-स्मारक-कोषमे भी धनिकोंका दान है। इसका सदुपयोग जब गान्धी-जीके अभीष्ट अर्थशास्त्रको अग्रसर करनेमे किया जायगा तभी शोषितोंके रक्त-कुण्डसे युग-लक्ष्मीका आविर्भाव होगा। सच तो यह कि गान्धीजीकी साधनासे स्वाधीन भारतका सम्पूर्ण कोष उनके रचनात्मक कार्य्योंमें लगा देना चाहिये।

तीसरे महायुद्धके बाद ससारका वर्त्तमान अर्थशास्त्र चल नहीं सकेगा। गान्धीजीका रचनात्मक कार्य्य (मूलत: ग्रामोद्योग) वर्त्तमान सकटसे भी उबारनेके लिए है, साथ ही आनेवाले युगको भी सम्बल देनेके लिए अग्रिम प्रयास है। यह आग लगनेके पहिले ही कुआँ खोद लेना है।

साहित्यिक संस्थाएँ रचनात्मक कार्य्योंके लिए ही धनिकोंसे दान और सर-कारसे सहयोग लें। सरकारको भी इसी निमित्त सहयोग देना चाहिये तभी जनताके धनका सदुपयोग उसीको नवजीवन देनेमे हो सकेगा।

यो तो रचनात्मक कार्य्योंके लिए राजनीतिक क्षेत्रसे आये हुए कार्य्यकर्त्ता प्रयत्नशील हैं ही किन्तु उनके प्रयासोंकी अपेक्षा साहित्यिक प्रयाससे ही कर्म-को मर्म्म मिल सकेगा। 'पथचिह्न' में लेखकने कहा है—"जन-मनमे प्राणित्वका सञ्चार कोरे कार्य्यकर्त्ताओं द्वारा नहीं, जीवनके शिल्पियों (कवियों और कला-कारों) द्वारा होगा। कर्तृत्व तो मशीनमें भी होता है, किन्तु कवित्व (अन्त-स्वास्थ्य) के बिना वह निस्निग्ध है। आवश्यकता यह है कि जनताके भीतर कार्य्यकर्त्ता ही नहीं, कलाकार भी बिखर जायँ। कार्य्यकर्त्ता कलाकारोंके तत्त्वा-

वधानमें कार्य्य करें। इससे उनके कर्त्तृत्वमें वैसे ही कवित्व उत्पन्न होगा जैसे कारुशिल्पमें चारुशिल्प। यही होगा कर्म्मवीर गान्धीकी साधनाके साथ कविगुरु रवीन्द्रनाथके कवित्त्वपूर्ण व्यक्तित्वका समन्वय।"

वास्तवमें साहित्यिक संस्थाओंको सेवाग्राम और शान्तिनिकेतनका समन्वय करना है। साहित्यिक और उनकी साहित्यिक संस्थाएँ 'सर्वोदय समाज' और शान्तिनिकेतनके समन्वयके लिए जल-डमरू-मध्य बन जायँ। एक ओर वे जनताके अर्थग्रस्त मस्तिष्कको सर्वोदयकारी उद्योगोंद्वारा मुक्त करें, दूसरी ओर उसके अवकाशके क्षणोंमें संस्कारिताका सञ्चार करें; तभी होगा जीवनका वहिरन्तर-निर्म्माण।

गान्धी और रवीन्द्रका इस युगमें समन्वय नहीं हो सका, इसीलिए कर्म्म शुष्क और भाव निराधार रह गया। पुराकालमें कृष्ण-बलरामके सहयोगसे पृथ्वी स्वर्ग बन गयी थी। कृष्ण थे कलाकार, बलराम थे हलधर। इस युगमें भी जब किसानों और कलाकारोंका सहयोग होगा तब कर्म्म मर्म्म-मधुर बन जायगा।

कृषि और कला अथवा कृषक और कलाकारका सहयोग जीविकाको सुगम और जीवनको मनोरम बनानेके लिए है। इन्हींके संयोगसे वह सुन्दर सुसंस्कृत जीवन सुलभ होगा जिसकी कामना कवि कर रहा है—

'संस्कृत वाणी भाव, कर्म्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हो जन-वास, वसन, सुन्दर तन।

हरिद्वार,
१२–६–४८

जन-संस्कारिता

दो साल पहिले, सन् '४६ में, जब कि भारत स्वतन्त्रताके द्वारपर पहुँच रहा था, उस समय जन-जीवनके स्वप्नदर्शी कुछ चिन्तनशील व्यक्ति राष्ट्रके सांस्कृतिक विकासके लिए भी योजनाएँ बना रहे थे। उन्हींमें सुप्रसिद्ध पत्रकार पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी भी हैं। चतुर्वेदीजीने 'साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य' शीर्षक लेख लिखकर राजनीतिक कोलाहलमें आन्तरिक स्वर ध्वनित किया था। उन्होंने लिखा था, 'राष्ट्रीय स्वाधीनताकी मंजिल तय कर लेनेके बाद राष्ट्रके पुनर्निर्माणकी योजनामें क्या साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्वराज्यके लिए भी कुछ ध्यान रखा गया है? ऐसे भी देश हो सकते हैं जो राजनीतिक दृष्टिसे स्वाधीन होनेपर सांस्कृतिक दृष्टिसे पराधीन हों।'

साहित्यिक स्वराज्यसे उनका अभिप्राय था—विचार-स्वातन्त्र्य तथा विदेशी परावलम्बनसे साहित्यकी मुक्ति। राजनीतिक नेताओंसे उन्होंने यह प्रश्न किया, 'क्या आपने ऐसी भी कोई स्कीम सोची है जिससे हम साहित्यिक और सांस्कृतिक चीजोंके लिए विदेशी भाषाओं और विदेशी ग्रन्थकारोंके गुलाम न रहें?'

मनोभूमिका परिष्कार

सांस्कृतिक दृष्टिसे उनकी जिज्ञासा यह थी, 'जिस राष्ट्रको जन्म देने जा रहे हैं, या यों कहिये पुनर्जीवित कर रहे हैं, उसकी आत्माका रूप क्या होगा? प्राचीन संस्कृतिका कितना हिस्सा सुरक्षित रहेगा और नवीन संस्कृति (?—सभ्यता) की क्या-क्या बातें छोड़नी होंगी? हमारी संस्कृति ग्रामीण होगी या शहरी? शस्त्रास्त्रोंकी हिंसामयी बाढ़में हमारी अहिंसा और अपरिग्रहकी नौकाओं-की कहाँतक रक्षा हो सकेगी?'

अपने प्रश्नों द्वारा चतुर्वेदीजी सर्वसाधारणकी मनोभूमिके परिष्कारकी ओर सरकारका ध्यान आकृष्ट करना चाहते थे। उनके शब्द—'हमने पढ़ा था कि युक्तप्रान्तीय सरकार सड़कोंके निर्माणमें ढाई करोड़ रुपया खर्च करने जा रही है। सड़कोंको हम बहुत जरूरी चीज मानते हैं। निःसन्देह कच्ची सड़कोंको पक्की बना देनेसे जनताका बहुत हित होगा, पर सड़कोंकी बनिस्बत हम मनुष्योंके मस्तिष्क-

को और भी महत्त्वपूर्ण समझते है। यदि जनताका मस्तिष्क ऊवड-खावड अवस्थामे पडा हुआ है, उसमे कच्चे विचारोके झाड-झखाड उगे हुए है तो पक्की सडकोपर मोटरवसोमे वैठकर भी वह अपने लक्ष्यपर नही पहुँच सकेगी।'

सचमुच, मनोभूमि ही मानवीय प्रयासोकी मूलभूमि है साहित्य, सस्कृति, स्वराज्य, ये सव इसीके विकास (मनोविकास) है। मनोभूमिके परिष्कारकी पहिली पहिचान है—सस्कारिता, इसके विना सभी उच्च प्रयास मेघाडम्वर-मात्र है।

समाज-शिक्षा

इधर काग्रेसी सरकारोका ध्यान 'समाज-शिक्षा' की ओर गया है। कुछ प्रान्तोमे यह कार्य्य आरम्भ हो गया है और आगे-पीछे सभी प्रान्तोमे प्रारम्भ हो जायगा।

भारत-सरकारके शिक्षामन्त्रीने 'समाज-शिक्षा' का स्पष्टीकरण यो किया है—'समाज-शिक्षा पाठ्यक्रमका वह अग है जिससे जनतामे स्वय नागरिकताकी भावना उत्पन्न होकर उसमे सामाजिक रूपमे सघटित होनेका विचार पैदा होता है।' इस सैद्धान्तिक सतहपर 'समाज-शिक्षा' का क्षेत्र वहुत विस्तृत है। शिक्षा-मन्त्रीके निर्देशानुसार, 'समाज-शिक्षाके अन्तर्गत जनताको नागरिकताकी भावना-का ज्ञान कराया जायगा, लोकतन्त्रीय कार्य्योके सम्पादनका उपाय वताया जायगा, इतिहास-भूगोल और देशकी सामाजिक स्थितिका परिचय कराया जायगा, शिल्प, कला और उद्योगोकी शिक्षा दी जायगी, ग्रामगीत, नृत्य और नाटकको महत्त्व दिया जायगा, और सवमे वढकर जनताको सहिष्णुता, सहानुभूति, विनोद और सद्व्यवहार आदि आधारभूत सिद्धान्तोकी शिक्षा दी जायगी।'

संस्कारिता या नागरिकता ?

यद्यपि समाज-शिक्षाकी इस व्यापक योजनाके अन्तर्गत जन-सस्कारिता-का भी समावेश हो जाता है,तथापि विशेप रूपमे ध्यान दिलाने अथवा 'नागरिकता' को प्राणान्वित करनेके लिए सस्कारिताको शीर्षस्थान मिलना चाहिये। नागरिकता-मे पारस्परिक स्वार्थोका सामूहिक सगठन है, सस्कारितामे सामाजिक चेतनाका अन्त प्रस्फुटन।

प्रचलित शिक्षा-प्रणालीसे भिन्नता सूचित करनेके लिए शिक्षा-मन्त्रीने अपनी अभीष्ट 'समाज-शिक्षा' के सम्वन्धमे कहा है, 'ब्रिटेन और अमेरिकामे इसे

उच्च शिक्षा या औपचारिक शिक्षाके नामसे स्मरण किया जाता है।'—यदि समाज-शिक्षाका यही स्वरूप है तो वह कृत्रिम है, अन्तःशून्य है। व्यापारिक देशोंमें इस प्रकारकी 'उच्चशिक्षा', 'औपचारिक' ही हो सकती है क्योंकि उसमें हृदयका विकास नहीं होता, बल्कि कुछ क्षणोंके लिए व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वितासे अवकाश-मात्र मिलता है। जहाँ व्यापारिक प्रवृत्ति ही जीवनकी व्यावहारिक नीति है वहाँ नागरिकता आदर्श नहीं, केवल लोकाचार है। जो राष्ट्र अपने नागरिक जीवनमें बड़े सभ्य दीख पड़ते हैं वे ही राजनीतिक जीवनमें कैसे बर्बर हो जाते हैं!

हमें लोकाचार नहीं, आत्मीयता, सभ्यता नहीं, संस्कृति (आन्तरिक वृत्ति) चाहिये। अतएव नागरिकताको हम कहेंगे संस्कारिता, पारिवारिकता, हार्दिकता। जैसी धारणा होगी, वैसा ही स्वभाव बनेगा।

मौलिक शिक्षा

शिक्षा-मन्त्रीने अपनी शिक्षा-नीतिके सम्बन्धमें कहा है, 'परम्परागत (विद्यालयोंकी) शिक्षा-प्रणाली यथापूर्व बनी रहेगी। किन्तु इसके साथ इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि केवल साक्षरता-प्रचारसे ही भारतीय जनताका कल्याण नहीं हो सकता। वास्तविक शिक्षा तो सामाजिक पुनर्निर्माणके द्वारा ही मिलती है और सामाजिक पुनर्निर्माण सच्ची शिक्षाद्वारा ही सम्भव है।'

इन शब्दोंमें शिक्षाका जो सूक्ष्म ध्येय (अन्तर्विकास) लक्षित है उस ध्येय-तक पहुँचनेके लिए हम 'सच्ची शिक्षा' किसे कहेंगे? यदि वह 'औपचारिक' ही है तो 'परम्परागत शिक्षा' की तरह यह नवीन 'उच्च शिक्षा' भी निष्फल रह जायगी। वस्तुतः हमें शिखरकी ऊँचाईसे नहीं, बल्कि तलकी अधोगतिसे अपनी शिक्षाका आरम्भ करना है। इसे हम सामाजिकताकी बुनियादी शिक्षा कह सकते हैं।

शिक्षा-मन्त्रीकी विज्ञप्तिके इन वाक्योंमें बुनियादी शिक्षाका कुछ संकेत मिल जाता है 'जनताको स्वस्थ जीवन व्यतीत करनेकी शिक्षा देना तथा घर-बाहर-को स्वच्छ रखनेकी प्रेरणा करना।' इसी तरह दैनिक जीवनकी सभी बातोंमें सुरुचि सुसंगति और शालीनताकी शिक्षाको हम सामाजिकताकी बुनियादी शिक्षा कहते हैं। इसे ही मौलिक शिक्षा (मूलभूत शिक्षा) भी कह सकते हैं। इसके बिना सभी उच्च शिक्षाएँ निर्मूल हैं, बालूकी भीत हैं।

बुनियादी शिक्षा, संस्कारिताकी ही शिक्षा है। इसके बिना नागरिकता पुलिस, वकील, जज इत्यादि सरकारी अथवा अर्द्धसरकारी पदाधिकारियोंकी

कृत्रिम कर्तव्यपरायणताकी तरह है। पुलिसकी परेड, सेनाकी कवायद और कालेजो-युनिवर्सिटियोमे सैनिक शिक्षामे अधिक आवश्यक है संस्कारिता जगाना। सरकार चाहे तो गाँव-गाँव, नगर-नगरमे इसके लिए भी व्यवस्था कर सकती है। वोर्डो और कारपोरेशनोको इस ओर प्रेरित किया जा सकता है। यह कार्य्य सैनिक ढगसे नही, शुद्ध सामाजिक विधिसे होना चाहिये; ताकि मनुष्य वाहरसे अनुशासित होनेके वजाय भीतरसे स्पन्दित हो सके।

अन्तश्चेतनाकी साधना

संस्कारितामे मनुष्यकी अन्तश्चेतनाकी साधना है। इन्द्रियोकी क्रियाओ-से जब इस साधनाका सयोग हो जाता है तव हमारी प्रत्येक कृति संस्कृति वन जाती है, हमारे सभी कार्य्यो और घर-वाहर सभी स्थानोमे अन्त करण (अन्त-निर्म्माण) का दर्शन मिलने लगता है।

अभी तो संस्कृति भी एक मौखिक फैशन वनी हुई है, दैनिक कृत्योमे तो चारो ओर विकृति ही विकृति दीख पडती है।

साम्प्रदायिक लोग धर्म्मका तो गुणगान करते है किन्तु उनकी क्रियाओ और प्रवृत्तियोमे धर्म्मका परिचय नही मिलता। वे तो पशुओकी तरह ही खाते-पीते और मल-मूत्रसे पृथ्वीको सुशोभित करते है।

यो तो मनुष्य भी एक पशु ही है, किन्तु वह अपनी प्रवृत्तियोमे अन्तश्चेतना-को साधकर, मनके योगसे मनोयोगी मानव हो जाता है। सम्प्रदायोके भीतर 'मानव' नही, पशुओकी जमात है।

साम्प्रदायिकतासे ग्रस्त हिन्दू मुसलमानोको म्लेच्छ मानता आया है और मजहवी जोशसे मतवाला मुसलमान हिन्दुओको काफिर कहता रहा है। लेकिन दोनो अपने घरो और आदतोमे एकसे ही गन्दे और फूहड है। जवतक प्रत्येक घर मन्दिर और मसजिदकी तरह पवित्र नही हो जाता, प्रत्येक व्यक्ति संस्कारिताका उपासक नही वन जाता, तवतक धर्म्म एक ढकोसला है।

संस्कारिता अन्त करणकी वह सरस्वती है जो जीवनके प्रत्येक कृत्यमे सत्य शिव सुन्दरका समावेश कर देती है। उसके लिए कोई कार्य्य अपने स्थूल रूपमें छोटा-वडा नही होता। कार्य्योकी लघुता-महत्ता कार्य्य-सम्पादनकी सूक्ष्म कुशलता-अकुशलतापर निर्म्भर है। इसीलिए हमारे यहाँ कहा है—'योग कर्म्मसु कौशलम्।' कर्म्मकौशलमे मनोयोगका, चेतनाकी साधना (संस्कारिता)-का परिचय मिलता है।

गीताकारने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्म्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

युक्तकर्म्मसे कर्म्मयोग और सयुक्त कर्म्मयोगियोंसे समाज बनता है। आज कर्म्मयोग भी नहीं है और कर्म्मयोगियोंका समाज भी नहीं है। चारों ओर योग-भग है।

राष्ट्रीय स्थिति

राष्ट्रीय आन्दोलनके दिनोंमें ब्रिटिश सरकारसे तो हम असहयोग करते रहे, लेकिन अपनी मानवीय चेतनासे भी सहयोग नहीं करते थे। इसीलिए गांधीजीको बार-बार अनशन करना पड़ता था।

ब्रिटिश शासकोंके अन्यायकी तो हम शिकायत करते रहे लेकिन स्वयं अपनी गन्दगी, लापरवाही, गैरजिम्मेदारी और मक्कारीके कारण सामूहिक रूपसे पड़ोसियोंके साथ और व्यक्तिगत रूपसे अपनी बुद्धिके साथ क्या हम अन्याय करते नहीं आ रहे हैं? हमारी ही कमजोरियोंके कारण हमें स्वराज्य तो खण्डित मिला, लेकिन हमारी विकृतियां अब भी ज्योंकी त्यों अखण्ड हैं। चोरबाजार, भ्रष्टाचार और कार्य्यकर्त्ताओंका स्वेच्छाचार देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि असहयोग-आन्दोलनमें कैसे-कैसे लोग शामिल थे।

ये जो पीछेकी विकृतियां आज मौका पाकर खुल-खेल रही हैं, उनकी ओर सबका ध्यान एक मौलिक दिग्दर्शक उस समय भी आकृष्ट कर रहा था जब कि लोग स्वराज्यकी बड़ी-बड़ी बातोंमें अपने छोटे-छोटे सामाजिक कर्तव्योंको भूले हुए थे। वे मौलिक दिग्दर्शक अथवा नागरिकताके निर्म्मल निर्देशक हैं श्री श्रीप्रकाशजी।

असहयोग-आन्दोलनके आरम्भ-काल (सन् '२०) से ही श्री श्रीप्रकाशजी उन बातोंपर जोर देते आये हैं जो एक अच्छे राज्यके नागरिकके लिए आवश्यक हैं। वे कहते थे कि 'मेरी तो दृढ़ भावना है कि जो केलेका छिलका सड़कपर फेंकता है या ठीक तरहसे छाता लेकर नहीं चलता वह स्वराज्यके रास्तेमें रोड़े अटकाता है।'—उस समय उनकी बातें लोगोंको असामयिक और अनर्गल जान पड़ती थीं। लेकिन उन बातोंपर ध्यान दिया गया होता तो स्वराज्यके स्वागतके लिए उपयुक्त मनोभूमि तैय्यार मिलती।

भारतकी स्वतन्त्रता और उसे सँभालनेके लिए समुचित योग्यताका सकेत श्रीप्रकाशजीने वर्षो पहिले इन शब्दोमे कर दिया था—"स्वराज्य मिलनेपर भी हम उसे सम्हाल न सकेंगे यदि हममे सच्चे नागरिकके गुण न आवेंगे।...मैं खूब जानता हूँ कि यदि हम न भी चाहे तो भी स्वराज्य हमको मिलेगा जरूर। कोई साम्राज्य अनन्त नही है। यदि हम अपनी शक्तिसे स्वराज्य न पावेगे तो साम्राज्यकी वृद्धावस्थाकी कमजोरी या निकटवर्त्ती देशोकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति हमे वह दिला देगी। पर हम उसे कितने दिन रख सकेंगे यदि हम उसके योग्य न होंगे, इसकी अवश्य चिन्ता है।"—श्रीप्रकाशजीके, ग्यारह वर्ष पहिलेके, इन वाक्योमे आजका वर्त्तमान प्रत्यक्ष है।

छोटी-छोटी बातोंका महत्त्व

मित्रो, गोष्ठियो और सभाओमे श्रीप्रकाशजी लोगोको जीवनकी उन छोटी-छोटी बातोका ध्यान दिलाते रहे है जिनके बीच मनुष्य प्रतिदिन प्रतिक्षण गुजरता रहता है। उनका कहना है कि,'हम छोटी-छोटी बातोकी उपेक्षा भले ही करे, पर वे ही वास्तवमे आगे चलकर बडी हो जाती है। छोटा-सा छेद बडेसे बडे जहाजको डुबा देता है, छोटी-सी फुसी बड़ेसे बडे पहलवानको मार डाल सकती है। छोटी-छोटी बातोकी उपेक्षा न कीजिये, ये बड़ीसे बड़ी बातोसे बडी है।'

बडी-बड़ी बातोके लिए तो मनुष्य खास तौरसे अपना अभिनय तैय्यार कर लेता है। लेकिन उसका वास्तविक परिचय उन छोटी-छोटी बातोसे मिल जाता है जिनके लिए वह अपनेको सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र छोड़ देता है। छोटी-छोटी बातोसे ही पता चलता है कि कौन मनुष्य कितना जड़ या सचेतन है। अपने नागरिकोकी जड़ता ही श्रीप्रकाशजीकी अन्तर्वेदना है। वे बडी विकलतासे उसे देखते-दिखाते है और मनुष्यसे उसके विवेककी अपील करते है। कहते है, 'यदि हम अपनेमे चन्द सवाल बीच-बीचमें पूछे और जो उत्तर उन सवालोका हम दूसरोके लिए दे उन्हे ही अपनेपर लागू करे तो हमे सच्चे नागरिक बननेमे देर न लगे।'

जड़ताको दूर कर मनुष्यको सचेतन प्राणी बनानेके लिए वे नागरिकताकी प्रारम्भिक बातोमे शिक्षाको सजीव देखना चाहते है। इसके लिए घर ही सर्वोत्तम पाठशाला है। वे कहते है, "भारतमे सबसे बडी आवश्यकता यह है कि हमारे घर सुव्यवस्थित हो। घरोमे ही बच्चे पाले जाते है और वही उन्हे अच्छे और सच्चे नागरिक बननेकी शिक्षा दी जा सकती है। माता-पिता बाल्यावस्थामे जो छोटी-

छोटी पर अत्यन्त आवश्यक बातोंकी शिक्षा देते हैं वह मनमें जम जाती है और अपने जीवनका अंग हो जाती है। इसके सामने स्कूलों और कालेजोंकी शिक्षा, यहां-तक कि आगे चलकर जीवनके कटु अनुभवोंतककी शिक्षा कोई चीज नहीं है।

अगर हम अपने घरोंको देखें तो यह पाते हैं कि वहां सदा सभी चीजें अस्त-व्यस्त रहती हैं। सब चीजें सब जगहों पर पड़ी हुई हैं और सभी काम सभी जगह लोग अपनी 'तात्कालिक' सुविधाके अनुसार करते रहते हैं। इसी कारण फल और और तरकारीके छिलके, कागजके टुकड़े आदि चारों तरफ बिखरे रहते हैं और झाड़ूको अपना काम किये देर नहीं होती कि सारा स्थान फिर गन्दा हो जाता है। जान-बूझकर हम किसीकी हानि करना नहीं चाहते पर हमें इसका ख्याल ही नहीं होता कि हम कोई अनुचित कार्य्य कर रहे हैं, क्योंकि हमें किसीने बतलाया ही नहीं कि क्या करना चाहिये। बच्चे, स्त्रियां, यहांतक कि वयोवृद्ध पुरुष भी घरोंको सदा अस्तव्यस्त अवस्थामें रखनेमें सहायक होते हैं।

घरपरकी लापरवाहीके अभ्यासके कारण बाहर भी हम लापरवाह बने रहते हैं। सड़कोंपर, स्टेशनोंपर, यहांतक कि रेलगाड़ीके भीतर भी हम अपनी खराब आदतोंके भयंकर नतीजे देखते हैं।"

इस दृष्टिसे देखनेपर हमारी विकृतियां गृह-संस्कारिताका अभाव सूचित करती हैं। अच्छा गृहस्थ ही अच्छा नागरिक बन सकता है।

सार्वजनिक जीवन

घरोंके वातावरणमें अपने बने-बिगड़े संस्कारोंको लेकर जो लोग संस्थाओं अथवा अन्य सार्वजनिक क्षेत्रोंमें पदार्पण करते हैं उनके अच्छे-बुरे निर्म्माणका फल-भोगी जनताको भी होना पड़ता है। जनता तो जड़ है ही लेकिन जो लोग जन-जीवनके सुधारक और नागरिकताके निर्म्मायक बनकर म्युनिस्पल बोर्डों और कार-पोरेशनोंमें विराजमान हैं उनमें ही भला जनताकी अपेक्षा क्या विशेषता है? जनताको तो वे स्वास्थ्य और सफाईकी शिक्षा देना चाहते हैं लेकिन स्वयं उनमें इसके लिए कोई आत्मशिक्षण नहीं है। उनकी योग्यताका सबूत जगह जगह सार्व-जनिक पाखानों, पेशाबघरों और भैंसागाड़ियोंमें मिल जाता है।

सड़कपर जिस समय भैंसागाड़ी एक या एकाधिक कतारोंमें जुलूस बनाकर चलती है उस समय जैसा बीभत्स दृश्य उपस्थित हो जाता है उसे देखकर जान पड़ता है कि नागरिकता कितनी अशोभन है! क्यों न हम भैंसागाड़ियों

भी मनोहर बना दे। सरस्वतीके वाहनकी तरह भैंसा भी हमारी सस्कारिताका वाहन बन सकता है। भैंसागाडीको ऊपरसे ढँककर (ताकि हवामे दुर्गन्ध न फैले), और बाहर उसकी दीवारोको नेत्ररञ्जक रंगोमे सुरुचि एव स्वच्छताके निर्देशक दृश्यो-से चित्रित कर, सस्कारिताकी चलती-फिरती पाठशाला बनाया जा सकता है।

नागरिकताके निर्म्माताओमे यदि कारयित्री प्रतिभा हो तो कर्म्मचारियो और जन-समूहोका अन्त करण कर्त्तव्यके प्रति स्वय आकर्षित हो जाय। जनताकी जहालत और कर्म्मचारियोकी हडतालोका कारण अधिकारियोकी भोडी कार्य्य-प्रणाली भी है। वे मनुष्यके शरीरसे ही काम लेनेका प्रयत्न करते है, उसके मनको स्पर्श नही करते। मनको सरसता-मधुरता न मिलनेपर भोजन भी अरुचिकर हो जाता है।

अधिकारियो और कर्म्मचारियोके भरोसे बैठे रहना किसी पगुका ही स्वभाव हो सकता है, हिलते-डुलते मनुष्यका नही। धनोपार्जनके लिए जैसे मनुष्य उद्यमी बनता है वैसे ही सामाजिक उत्कर्षके लिए भी सन्नद्ध हो सके तो उसका खाना-कमाना सबकुछ सार्थक हो जाय।

लोग यदि अपने-अपने मुहल्लोमे स्वयसेवक दलोका सगठन कर राह-बाट और आसपासको झाडने-बुहारने-सँवारनेमे लग जायँ तो उन्हें अधिकारियो-को लापरवाही और कर्म्मचारियोकी हड़तालोसे दिक्कत नही होगी। उनकी तत्परतासे ऊपरके लोगोमे भी कर्मण्यताकी लाज आयेगी।

धार्मिक विवेक

जनतामे सस्कारिता जगाना उन धार्म्मिक नेताओका भी काम था जिन्होने मनुष्यको जन्म-जन्मान्तरके लिए अपना क्रीतदास बना लिया है, किन्तु आजतक वे अपने एक भी तीर्थका सुधार नही कर सके। जो लोग अपनी गन्दगीसे इहलोकको नरक बनाते है उन्हे लेकर ईश्वर अपने स्वर्गकी भला क्या शोभा बढा सकता है।

सस्कारिताकी दृष्टिसे देखनेपर सर्वसाधारण ही नहीं, बल्कि विशिष्ट जन-भी जीवनके निम्न धरातलपर दीख पडते है। यदि हमारे थूकने-खखारनेमे भी भोडा-पन है, ठाँव-कुठाँवकी पहचान नही है तो हम चाहे जैसे भद्र हो, अपनी आदतोमे भद्दे ही है। इस अर्थप्रधान युगमे प्राय सबके जीवनकी दैनिक प्रणाली एक-सी ही दूषित, कुत्सित, असस्कृत है; सिर्फ रोजी कमानेके ढग अलग-अलग है।

ध्यानसे देखे तो हमे दिन-प्रति दिनकी कितनी ही मामूली बातोमे सस्कारिता

की समस्या हल करती है। संस्कारिताका संविधान उन सनातन धर्म्ममे है जिनमें हमारी संस्कृतिका कभी पूर्ण विकास हुआ था। यदि उन धर्म्मका विवेकपूर्वक पालन किया जाय तो व्यक्ति और समाज दोनोका कल्याण हो।

कलाका दायित्व

संस्कारिताका सञ्चार कोरे आदेश-निषेध-उपदेशसे नही किया जा सकता इसके लिए हृदयोन्मेष करना चाहिये। यह काम कलाका है। मन्दिरोमे भी हम देखते है कि वहा कला ही हमारी आराधनाको सगुण-सजीव बनाती है देवताओं-की प्रतिमामे वन्दनाके गीतोमे।

कलाका काम केवल भाव-विलास नही बल्कि लोकजीवनका निर्म्माण भी है। 'युगवाणी' के कविके निर्देशानुसार 'ललित कला' वह है 'कुत्सित कुरूप जगका जो रूप करे निर्म्माण।'

देशमे कलाकी अनेक संस्थाएँ है संस्कारका ध्यान भी कुछ संस्थाओंको अखिल भारतीय रूप देनेकी ओर गया है। किन्तु कलाका काम गान वाद्य नाट्य नृत्य, चित्र, काव्यमे ही समाप्त नही हो जाना चाहिये। इन कलाओंके रहते हुए भी जिस दैनिक सुरुचिके अभावमे जनताका जीवन असगत है सबसे पहले उसी सुरुचिको जगाना है। इसके लिए जीवनकी प्रारम्भिक शिक्षा (संस्कारिता) को ही कलाकी वर्णमाला बना देना चाहिये। सभी विद्यालयोंमे यह प्रारम्भिक शिक्षा यदि अनिवार्य्य कर दी जाय तो भावी नागरिकताकी एक पौध तैयार हो जाय। छात्र-छात्राओंद्वारा अर्जित संस्कार परिवारसे परिवारद्वारा समाजमे फैलेगा।

साप्ताहिक अवकाशके दिन शिक्षासंस्थाएँ कलाकारोंको अपने यहा आमन्त्रित कर उनका निर्देशन प्राप्त कर सकती है। स्वयं कलासंस्थाएँ भी समय-समय-पर सांस्कृतिक समारोहोंद्वारा छात्र-छात्राओंको संस्कारिताकी प्रेरणा दे सकती है।

साक्षरता-प्रचार और स्वास्थ्य-सप्ताहकी तरह सुरुचि देनेवाली आयो-जनकी आवश्यकता है। यह आयोजन नगरोंके साथ हृदयकी तरह [illegible]-का अन्तरङ्ग बन सकता है।

सुरुचिका संस्कार जगानेके लिए जनताको [illegible] पोस्टरों और सांस्कृतिक कार्य्योंद्वारा दृष्टिगत किया जा सकता है। इस तरहके

फिल्म-कम्पनियाँ भी समाचारोंकी तरह दैनिक आचारोंके चित्र प्रस्तुत कर सहयोग दे सकती हैं।

संस्कारिताका सजीव पाठ तो आचरणका प्रत्यक्ष दृष्टान्त ही हो सकता है। जैसे हरिजनोंकी वस्तियोंकी सफाईके लिए कार्य्यकर्त्ता स्वयं उस काममें जुट जाते हैं वैसे ही सामाजिक सुषमाको साकार करनेके लिए कलाकारोंको भी सक्रिय भाग लेना चाहिये। गाँवों और नगरोंमें मुहल्ले-मुहल्ले सुरुचिके ऐसे शिक्षण शिविर खोले जा सकते हैं जहाँ जनता, कार्य्यकर्त्ता और कलाकारोंका सम्मिलन हो सकता है।

सौन्दर्य्य-बोध

हमारे इन सभी प्रयत्नोंका एकमात्र लक्ष्य होगा जनताको जीवनका सौन्दर्य्य-बोध देना। मनुष्यके भीतर सौन्दर्य्यका जो आकर्षण है उसे कला जीवनकी सर्वांगीण सुषमाकी ओर प्रेरित कर सकती है।

लोगोंको यह बोध कराना है कि सबसे बड़ा सौन्दर्य्य स्वयं उनका जीवन है। जीवनको सुरम्य बना लेना सौन्दर्य्यका स्व-राज्य पा जाना है।

अभी तो लोग सौन्दर्य्य केवल स्त्रियोंमें देखते हैं, शेष बातोंमें उनकी दृष्टि सौन्दर्य्यपूर्ण नहीं; बहुत हुआ तो अच्छे कपड़ोंमें बन-ठनकर नुमाइशी जीव बन जाते हैं।

सौन्दर्य्यका सीधा सम्बन्ध सुरुचि (सुदृष्टि) से है। सुरुचिपूर्ण निर्धन निरक्षर, व्यक्ति भी सौन्दर्य-सम्पन्न हो सकता है। कलाकार नन्दालाल बोस कहते हैं, 'गरीब संथाल अपना मिट्टीका घर लीप-पोतकर मिट्टीके वर्त्तन और फटी गुदड़ी सजाकर रखता है, किन्तु कालेजमें पढ़े अनेक शिक्षित छात्र-छात्री प्रासादोपम होस्टल अथवा छात्रावासोंमें कीमती कपड़े, बासन-बर्तन इधर-उधर फेंककर, सब कुछ गन्दा करके रखते हैं। यहाँ दरिद्र संथालका सौन्दर्य्य-बोध उसकी जीवन-यात्राका अंगीभूत और प्राणवन्त बोध है, धनी सन्तानका सौन्दर्य्य-बोध केवल दिखाऊ और प्राण-हीन है।'

रसात्मक प्रेरणा

जन-संस्कारिता ही नहीं, जीवनके किसी भी प्रयासमें कलाके बिना सफलता नहीं मिल सकती। कला मनुष्यकी रागात्मिका वृत्तिको रसोन्मुख कर देती है।

जिसमें रस है उसमें हृदय है। हमारे सभी धर्म्म-कर्म्म हृदयका रस पाकर ही मार्मिक हो सकते हैं।

केवल उपयोगिताकी दृष्टिसे अंगीकृत कर्त्तव्यमें हृदय नहीं रहता। कर्त्तव्यमें जब रसानुराग जग जाता है तब वह सुललित जान पड़ने लगता है। हम जब अपने जूतोंपर खुद पालिश करते हैं, अपनी हजामत अपने हाथ बनाते हैं, अपने कपड़ों पर 'स्त्री' करते हैं, बगीचोंमें बागवानी करते हैं तब पैसे बचाने या कमानेके लिए नहीं, बल्कि कर्त्तव्यमें आत्मरचनाका सुख पानेके लिए। आत्मरचनाका यही सुख मनुष्यके प्रजननमें समाया रहता है। कर्त्तव्य भी जब प्रजनन बन जाता है, तब हम उससे सन्तानकी तरह प्रेम करने लगते हैं। कला मनुष्यमें इसी आत्मरचनाकी प्रवृत्ति उत्पन्न करती है और उसे संकीर्ण स्वार्थ की सीमासे निकालकर वहाँ-वहाँ अपनेपनका बोध कराती है जहाँ-जहाँ उसकी रचनाका क्षेत्र फैला हुआ है। मनुष्य जब कर्त्तव्यमें आत्मोपलब्धिकी तृप्ति पानेके लिए लालायित होगा तभी आजकी हृदय-हीन व्यापारिक तृष्णा तिरोहित होगी।

काशी,
२४।८।४८

भाषा

भाषाके विकासका इतिहास मानव-जातिके विकासका इतिहास है। मनुष्य अपनी जीवन-यात्रामे किन प्रवृत्तियो, किन अनुभूतियोको लेकर किस मंजिलतक पहुँचा है; यह उसकी भाषासे ज्ञात होता है। भाषामे मनुष्यकी अन्तरात्माका भाष्य है।

जन्म और विकास

भाषाका जन्म मनुष्यकी सामाजिकताके भीतरसे हुआ है। प्रारम्भमें जब मनुष्यके पास केवल वाणी थी, भाषा नहीं, तब वह अपनी अनुभूतियो और प्रवृत्तियोको अस्पष्ट शब्दोके उद्‌गीरण, इन्द्रियोके अभिव्यञ्जन और वस्तुओंके संकेतोसे व्यक्त करता था। वह वाणीका बाल्यकाल है। इसके बाद जब एक ही प्रकारकी प्राकृतिक परिस्थितियो और आवश्यकताओसे प्रेरित होकर मनुष्य एक-दूसरेके सम्पर्कमे आनेको बाध्य हुआ तथा स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोमे ही नहीं बल्कि सभी मानवीय सम्बन्धोमें आत्मीयताका सूत्र जोडनेके लिए लालायित हुआ तब उसने पारस्परिक सहयोगमे अस्पष्ट शब्दोको सुस्पष्ट कर अपनी ही तरह वाणीको भी भाषामे आकार-प्रकार दे दिया। भाषा वाणीका मूर्त्तरूप है।

भाषाकी सृष्टि यद्यपि स्थूल उपयोगिताकी दृष्टिसे हुई तथापि मनुष्यकी जिस चेतनाने उसे सामाजिक प्राणी बनाया उस चेतनाने भाषामें अपना सूक्ष्म विकास (भाव-विकास) भी किया। मनुष्य बोलकर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ वह गाने-बजाने लगा, जीवन संगीत बन गया।

सामञ्जस्य

संगीत शब्दोमें द्रवीभूत निखिल चेतनाका रसात्मक संगम है, उसमे मानवेतर प्राणियोका भी स्वर-संयोग है। भाषामे मनुष्यकी सामाजिकताका परिचय मिलता है, संगीतमे विश्वप्राणताका।

मनुष्यका संगीत-प्रेम यह सूचित करता है कि उसकी चेतना कलापूर्ण सामञ्जस्य चाहती है। सामञ्जस्यमें ही जीवनका सौन्दर्य और माधुर्य है।

भाषा, समाज और संस्कृति इन सबका अस्तित्व सामञ्जस्यमें ही है, यों कहें कि ये सामञ्जस्यके ही विविध रूप हैं।

जहाँ सामञ्जस्य नहीं है, वहाँ वैमनस्य है, वैषम्य है। जिनका स्वार्थ वैषम्यमें ही सफल होता है वे मनुष्यको सामाजिक प्राणी नहीं बनने देते, राजनीतिक फूट फैलाते हैं।

राजनीति और समाज

इतने वर्षोंकी राजनीतिक गुलामीमें मनुष्यका सहज स्वभाव जटिल हो गया है। जीवनके जिन साधनोंको मनुष्यने स्नेह-सहयोगसे सुलभ किया अब वे ही साधन दुर्लभ होकर उसके विघटन (सामाजिक विघ्न)-के कारण हो गये हैं भाषा, संस्कृति, अन्न, वस्त्र, ये सब फिर मनुष्यको उसी आदिमयुगके बियाबानमें पटक देना चाहते हैं जहाँसे निकलकर वह विकसित प्राणी बन सका था।

भाषाका विकास जीवनके भीतरसे हुआ था। सम्प्रति जीवनका विकास अवरुद्ध हो गया है, किसी तरह जीना ही एक समस्या बन गया है। जीवनकी समस्या हल किये बिना भाषाकी समस्या हल नहीं हो सकती।

भाषा, संस्कृति, अन्न, वस्त्र ये सब अलग-अलग समस्याएँ नहीं, बल्कि एक ही समस्याके रूपान्तर हैं। जिस सहयोग और सम्यक् दृष्टिसे अन्न-वस्त्रका अकाल दूर किया जा सकता है उसीसे भाषा और संस्कृतिका द्वन्द्व भी। गान्धीजी इसीकी प्रेरणा देते थे।

राजनीतिक भूखण्डोंमें विभक्त जो देश अभी अपने स्वार्थोंमें संकीर्ण हैं उन्हें आगे चलकर, सर्वग्रासी संकट उपस्थित हो जानेपर अपने दृष्टिकोणको उदार बनाना पड़ेगा। व्यापारिक सम्बन्धोंका स्थान सामाजिक सौहार्दको देना पड़ेगा।

सूर्य्य-चन्द्रके ग्रहयोगकी तरह मानवताके लिए भी यह एक अभिशाप ही है कि जीवनके किसी भी प्रश्नको हम लोग राजनैतिक दायरेमें लेनेके आदी हो

गये है। यह मनुष्यकी दुर्बलता है। राजनैतिक घटाटोप तो क्षणिक है, उससे अपनी चेतनाको कुण्ठित नहीं होने देना चाहिये।

गान्धीजी तो स्वराज्यको भी राजनैतिक रूपमे नही लेना चाहते थे। उन्होने कहा था—"राजनैतिक स्वराज्यमे वैधानिक पद्धति हो सकती है, किन्तु रचनात्मक कार्यक्रमके पूर्णरूपेण पालनसे ही 'अहिसात्मक स्वराज्य' सम्भव है। यदि केवल राजनैतिक स्वराज्य स्थापित किया जानेवाला हो तो मै हिमालयपर चले जाना पसन्द करूगा। इस समय सवसे महत्त्वका काम रचनात्मक ही है।"

गान्धीजीके प्रत्येक आन्दोलनके मूलमे यही विचार-विन्दु है। भाषाका प्रश्न भी इस विन्दुसे विलग नही है।

राजनीतिका प्रभाव कुछ दूरतक जीवनपर पडता है, लेकिन वहीतक जहातक जनताका सम्वन्ध राजकाजसे है। राजकाज ही उसका गृहकाज नही है। राजनीतिसे वाहर जनता अपना निर्माण अपने सामाजिक स्वावलम्वनसे करती है, इसीलिए मुस्लिम शासनमे न तो उर्दू सवकी भाषा वन सकी, न अग्रेजी शासनमे अग्रेजी। यदि राजभाषा ही सवकी भाषा वन जाय तो भी उससे जीवन की मूलभूत समस्या (मानवता या सामाजिकता) कहाँतक सुलझ सकेगी? एक ही भाषा वोलनेवाले देशोमे क्या वर्ण-द्वेष या वर्ग-द्वेष नही है?

जवतक मनुष्यके आर्थिक स्वार्थोमे विषमता है तवतक भाषाकी एकतासे मनकी एकता नही हो सकती। गान्धीजी इस वातको समझते थे। हिन्दुस्तानीको वे इसलिए चाहते थे कि लोगोका ध्यान निरर्थक वाह्य विरोधोसे हटकर जीवनके वुनियादी निर्म्माणमे एकाग्र हो जाय। वे विदेशी शासनसे ही नहीं, वल्कि राजनीति मात्रसे जनताको मुक्त कर उसे पूर्ण सामाजिक स्वावलम्वन देना चाहते थे। कहते थे कि उनका कार्यक्रम ऐसा है जो विना पार्लिमेन्टरी पद्धतिके ही दासता (राजनीतिक प्रभुत्व या आर्थिक परावलम्वन)-से मुक्ति देना है।

गान्धीजीका रचनात्मक कार्यक्रम मनुष्यको ऐहिक योग-क्षेममे निश्चिन्त-कर उसे हार्दिक सतहपर स्वस्थ मनसे मिलनेका अवसर देता है। यदि आजका आर्थिक पशु हार्दिक प्राणी (शुद्ध सामाजिक प्राणी)-वन जाय तो वह अपने मन, वचन, कर्म्मका स्वाभाविक ढगसे विकास करने लगेगा, स्वार्थोकी प्रतियोगिताका स्थान स्नेहके सहयोगको देने लगेगा।

भाषा तबतक सामाजिक नहीं बन सकती जबतक समाजमें व्यक्तिगत, जातिगत, वर्णगत, समूहगत स्वार्थोंका संघर्ष है। यदि स्वार्थोंकी विषमता दूर हो जाय तो किसी देश-विशेष की राष्ट्रभाषा ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्वकी भाषा एक हो सकती है और वह भाषा होगी प्रेमकी।

प्रतिक्रिया

हम देखते हैं कि आजके सभी प्रश्नोंमें सामाजिक मनुष्य ओझल होता जा रहा है, विविध रूपोंमें राजनीतिक या आर्थिक पशु ही उल्लग नाटय कर रहा है।

अभी उस दिन एक विश्वविद्यालयम भाषा-सम्बन्धी विवाद हुआ था। इस विवादमें साहित्यकार, देशभक्त (!) और शिक्षक सम्मिलित हुए थे। इस विवादका जो विवरण एक तटस्थ सम्वाददाताने प्रकाशित किया है उसमें कवि पन्तजीके भाषणको 'अध्यात्म'के अन्तर्गत रखकर उसे 'बाजार-दर' से बाहर कर दिया है और अन्यान्य वक्ताओंके भाषणसे यह निष्कर्ष निकाला है— "हम पढ़ा नहीं सकेंगे हमारी लिखी हुई पुस्तकोंकी खपत कम हो जायगी।"

इस मनोवृत्तिमें भाषा जीवनकी किसी प्रक्रियाको लेकर नहीं खड़ी हो रही है, वह तो प्रतिक्रियाका साधन बन गयी है। जनताको अपने नेतृत्वका मुखापेक्षी अथवा स्वार्थोंका संवाहक बनाये रखनेके लिए जन-स्वावलम्बनके प्रतिकूल किये गये प्रयत्नोंको हम प्रतिक्रिया कहते हैं। प्रतिक्रियासे अमृत भी अपात्रोंके हाथमें चला जायगा। मान लीजिये, हिन्दी अथवा संस्कृत सारे संसारकी भाषा और देवनागरी विश्वलिपि बन जाय (निःसन्देह बन सकती है)-तो जिनके व्यापारिक स्वार्थ सचेष्ट हैं वे क्या अपनी दूकानदारीसे बाज आयेंगे? और किसी अच्छी कृति या अच्छे साहित्यकारको पनपने देंगे? अब भी कहाँ पनपने देते हैं! उत्कृष्ट साहित्यका प्रचार निकृष्ट लोगोंकी शरण लेनेसे ही हो सकता है, यह वाग्देवीकी कैसी विडम्बना है! हमें जनताको बौद्धिक दृष्टिसे भी स्वावलम्बी बनाना है और यह तबतक सम्भव नहीं है जबतक शिक्षा सीखनेवालोंसे लेकर युनिवर्सिटियोंकी डिग्री हासिल करनेवालोंका एकमात्र लक्ष्य अर्थोपार्जन है।

इस आर्थिक प्रतियोगिताके युगमें स्थापित स्वार्थोंके लोग बाजारको अपने-अपने हाथमें बनाये रखना चाहते हैं। प्रयास आर्थिक है जिसे भाषा और संस्कृति के सुहावने नामोंसे ढँक दिया गया है ताकि क्षुद्रता उभरकर सामने न आ जाय।

धर्म्मकी तरह भाषाको भी साम्प्रदायिकतासे सीमित करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। हिन्दू-मुस्लिम-समस्याके क्षेत्रमें जो लोग प्रतिक्रियावादी थे वे ही हिन्दी-हिन्दुस्तानीके प्रसंगमें भी अपना साम्प्रदायिक दृष्टिकोण लेकर आ गये। आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते हैं कि देशभक्तिके नामपर जेल जानेवाले कतिपय नामांकित महानुभावों और बाहर बृटिश सरकारका गुणगान कर उसकी छत्रछायामें पलनेवालोंका भाषाके प्रश्नपर गठबन्धन हो गया! यों कहें कि प्रच्छन्न महत्त्वाकांक्षियोंका प्रत्यक्ष अवसरवादियोंसे आन्तरिक मिलन हो गया। इन लोगोंने भाषाका जो विवाद उठाया उसमें अहंकार फूत्कार रहा है।

केन्द्रित विकेन्द्रीकरण

बृटिश शासन-कालमें भाषा साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे ग्रस्त थी, इसीमें साम्राज्यवादका लाभ था। अब इस जनयुगमें भाषाको सार्वजनिक बनना ही पड़ेगा।

राष्ट्रभाषाकी आवश्यकता यदि सारे राष्ट्रके लिए है तो उसमें किसी एक वर्ग या सम्प्रदायको प्रधानता नहीं मिल सकती। सरकार सबकी है, उसे भाषाके सम्बन्धमें सबका ध्यान रखना पड़ेगा।

राजकाजकी तरह भाषाके सम्बन्धमें भी उसकी नीति केन्द्रोन्मुख-विकेन्द्रीकरण की हो सकती है। इस दृष्टिसे एक प्रगतिवादी मित्रका यह सुझाव उपयोगी है—

"(१) देवनागरी लिपिमें लिखी हुई व्यवहारमें आनेवाली हिन्दीको राष्ट्रभाषाका पद दिया जाय।

(२) राष्ट्रभाषा सिर्फ अन्तप्रान्तीय राजकाजकी भाषा हो। केन्द्रके आदेशोंको प्रान्तों और डिविजनोंमें पहुँचनेके बाद वहाँकी प्रान्तीय अथवा स्थानीय भाषामें प्रकाशित किया जाय। प्रान्तीय राजकार्यकी भाषा उसी प्रान्तकी भाषा हो। इस सम्बन्धमें तीन-चार सूबोंको, जिनमें उर्दू और हिन्दी पढ़नेवाले साथ-साथ

रहते हैं, द्विभापा प्रान्त माना जाय और दोनो भापाओका प्रयोग किया जाय।"

यह तो भाषाके राजकीय रुपकी वात हुई, इसके अतिरिक्त शिक्षाके माध्यमका भी प्रश्न है। अपनी सर्वसुगमताके कारण माध्यम हिन्दी हो सकती है। पहिले अग्रेजीके माथ जैसे प्रान्तीय भापाओका पठन-पाठन होता था वैसे ही हिन्दीके साथ किया जा सकता है।

द्विभापी प्रान्तोमे हिन्दी-उर्दू दोनोको स्थान मिल सकता है। उर्दू पढने-वाले चाहे तो ऐच्छिक रूपमे हिन्दी ले सकते है और हिन्दी पढनेवाले उर्दू। यदि उद्देश्य साम्प्रदायिक नही, वौद्धिक (ज्ञानार्जन) है तो ऐच्छिक रुपसे अन्यान्य अभारतीय भापाओका भी अध्ययन किया जा सकता है।

जन-स्वावलम्वन

जैसे राजनीतिक आन्दोलन अपेक्षाकृत उच्चवर्ग-द्वारा उठाये जाते है वैसे ही भापाका द्वन्द्व भी उन्हीके द्वारा अनुप्रेरित है। निम्नवर्ग मूक है। ये आन्दोलन और द्वन्द्व तभीतक है जवतक जनता परावलम्वी है। गान्धीजी अपने रचनात्मक कार्यो द्वारा एक ओर जीवनका स्वालम्वन देना चाहते थे, दूसरी ओर वाणीका।

जनता अपनी वाणीमे किसी हदतक स्वावलम्वी है ही, लेकिन उतने अश तक परावलम्वी भी है जितने अशमें सिक्केकी तरह भापाका भी सम्वन्ध राजकाजसे है। गान्धीजी गृह-उद्योगो द्वारा जिस तरह आर्थिक विपमताको सामाजिक समता देना चाहते थे उसी तरह जनवाणीको ही राष्ट्रभापा वना देना चाहते थे। परिपूर्ण जन-स्वालम्वन ही उनका रामराज्य था।

अन्तःशुद्धि

गान्धीजीका गृह-उद्योग जिम प्रकार अपनी मात्विकतासे अन्त करण पर भी प्रभाव डालता है उसी प्रकार उनका भापा-सम्वन्धी प्रयास भी। उनका प्रत्येक कार्य अन्त करणका रचनात्मक कार्य है। अन्त करणकी दृष्टिमे भापाकी मार्मिकता मनुष्यकी मस्कारितामे है। यदि भापाका सम्वन्ध राजनीतिसे नहीं, मस्कृतिसे भी है तो आर्थिक विपमता वनाये रखकर हम मस्कृतिका मरक्षण कैसे कर मकते है!

क्या दिन-रात संस्कृत बोलनेवाले अथवा गीता, कुरान और बाइबिल आदिका पाठ करनेवाले अपनी वाणीमे, व्यवहारमे असंस्कृत नही होते ?

भाषाकी सुविधा-असुविधासे मनुष्यकी दुष्प्रवृत्तियोमे रुकावट नहीं पड़ती। देशमे जब अंग्रेजीका बोलबाला था तब भी अशिक्षित व्यापारी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करके करोड़पति हो गये और अंग्रेजी जाननेवाले कर्मचारी क्लर्क या बाबू बने रह गये ! हमें तो ऐसे उद्योगोको अग्रसर करना चाहिये जिनसे मनुष्यकी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियोका परिमार्जन हो सके।

यदि मनुष्य भीतरसे परिवर्त्तित हो जाय तो भावके अनूठेपनमे भाषा भी अनूठी हो जायगी। सहृदयता जग जानेपर बर्बर से बर्बर भाषा मे भी प्राणोका कलरव गूँज उठेगा। जंगलियोकी भाषा बोलकर भी हमारा मन उतना ही उदात्त हो जायगा जितना संस्कृत बोलनेमे हो सकता है। सभी जातियो, सभी देशो और सभी भाषाओमे संगीत, कविता और कलाका अस्तित्व इस बातका प्रमाण है कि मनुष्य जब स्वार्थोकी प्रतिद्वन्द्वितासे मुक्त होकर सामाजिक सतहपर मिलता है तब उसमे मानवताके मनोरम गुणोका विकास होता है। मनुष्य मनुष्यके बीचमे दुरावका कारण, सत्तालोलुपोकी कृत्रिम राजनीति और विषमतापूर्ण अर्थशास्त्र है।

गान्धीजीने मनुष्यका शुद्ध सामाजिक रूप जगानेके लिए कहा—न हिन्दी, न उर्दू, न हिन्दू, न मुसलमान; दोनो है हिन्दुस्तानी। यदि वे अपने रचनात्मक कार्योकी जड़ जमा लेते और भारतकी इकाईमे सिन्धुको बिन्दु बना लेते तो उनकी सूफी भावना आगे बढकर कहती—हिन्दुस्तानी भी नही, केवल इन्सानी।

विरोधाभास

हिन्दुस्तानीके पक्षमे गान्धीजीके अनुयायी भी है, कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट भी है। हिन्दीके पक्षमे है कुछ कांग्रेसी, हिन्दू महासभाके अनुयायी, और हिन्दी साहित्य के महारथी। भाषाके प्रश्नपर विविध प्रवृत्तियोके इस एकत्रीकरणमे विरोधाभास है। यदि इन प्रवृत्तियोका लक्ष्य शुद्ध नही है तो भाषाके प्रश्नपर गुट बनाकर भी ये किसी शुभ दिशाकी ओर नहीं बढ सकती।

स्रष्टा और सृष्टि

राजनीतिक आवश्यकताके लिए चाहे जो भी राष्ट्रभापा निश्चित हो जाय किन्तु भापाका सम्बन्ध यदि मनुष्यके सामाजिक जीवनसे है तो उसकी रचना सदाकी तरह जनता तथा उसके सन्तो और कलाकारो द्वारा होती रहेगी। कलाकारोको भापा-सम्बन्धी गुटवन्दियोसे अलग रहकर तटस्थ दृष्टिसे विचार करना चाहिये, वे प्रतिक्रियावादियोके सहायक न वनें।

गान्धीजी थे इस युगके सूफी सन्त। वे जीवनके सभी प्रसगोमें सरलताका पाठ उपस्थित करते रहे है। उन्होने खादीकी जैसी सीधी-सादी पोशाक दी वैसी ही सीधी-सादी भापा भी देना चाहते थे। हिन्दुस्तानीसे उनका अभिप्राय वोलचालकी भापासे था। ऐसी भापा हिन्दी भी हो सकती है। हिन्दुस्तानीका आग्रह गान्धीजी इसलिए करते थे कि इसमे हिन्दी-उर्दू दोनो भाषाओकी सरलताका समन्वय हो जाय। हिन्दीके पक्षपाती उर्दूको भी हिन्दीकी एक शाखा मानते है। यदि उर्दूको एक ही जमीनका टुकडा मान लें तो भी मसजिदकी तरह उसका अपना अलग अस्तित्व है। किन्तु गान्धीजी भिन्नतामें अभिन्नताका आश्रय लेकर चलते थे, मन्दिरो और मसजिदो के न रहनेपर भी जिस हृदयमे धर्मका वास रहता है उसी हृदयकी भापा चाहते थे।

जनभापा

राष्ट्रभापाको व्यापक वनानेके लिए हम उसे जनभापा कह सकते है। जनभापाके रूपमें वोलचालकी भापा हिन्दी-उर्दू तक ही सीमित नही रहेगी, अन्यान्य प्रान्तीय भापाओमे भी जो शब्द सुन्दर, सरल, सुगम, सुवोध होगा वह भी इसमें आकर सम्मिलित हो जायगा। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धसे जुडे हुए है तो इसमें विदेशी शब्दोका भी समावेश होगा।

जनता जैसे सहज ढगसे जीना जानती है वैसे ही सहज ढगसे वोलना भी। उसे जैसा क्षेत्र मिलेगा उसके अनुसार उसकी वोली भी विना किसी प्रयासके स्वाभाविक ढगसे फैलती-फूलती जायगी।

सरस साधना

हिन्दुस्तानीके रूपमे गान्धीजीने जिस जनभापाका राष्ट्रीय आरम्भ किया, भविष्यमे उसका सामाजिक विकास जनता द्वारा और साहित्यिक सौन्दर्य कलाकारो

द्वारा सुलभ होगा। चित्रोंमें रूप, रंग, रेखा और वातावरणकी भांति ही भाषामें भी कलाकार एक सामञ्जस्य उपस्थित करेंगे।

वाद-विवाद और आन्दोलनोंसे जीवनका कोई भी प्रश्न स्थायी रूपसे नहीं सुलझ सकता। भाषा और संस्कृतिमें जब जन-जनके लिए कलाकार रस-सञ्चार करेंगे तभी वह हृदयको स्पर्श करेगी। पृथ्वीका एक नाम रसा है, रस द्वारा ही वह प्राणियोंकी धरणी-भरणी है। भाषा और संस्कृतिको भी पृथ्वीका पर्याय बन जाना है।

काशी,
२६ सितम्बर, '४८

साम्प्रदायिकता

कहा जाता है कि धन, धरती और नारी दुनियामें झगडेकी जड़ हैं। किन्तु हम देखते हैं कि ईश्वर, धर्म और भाषा भी विग्रहके कारण बन गये हैं।

वस्तुत संघर्षका कारण तो मनुष्यका यह ऐहिक अस्तित्व है। वह लडता है धनके लिए, धरतीके लिए और नारीके लिए। जिस युगमें सामाजिक शालीनता का अभाव था उस युगमे संघर्षका कारण अपने प्रकृत रूपमें स्पष्ट था, अब जब कि मनुष्य भीतरमे बर्बर और बाहरसे सभ्य बन गया है, वह अपनी बर्बरताको आडम्बरो से छिपाने लगा है।

आज प्रबल राष्ट्र तो छिपने-छिपानेकी आवश्यकता नही समझते, लेकिन निर्बल राष्ट्र ईश्वर और धर्मकी ओटमें अपने तामसिक स्वार्थोंका संघर्ष करते है। जिन देशोमें लोकचेतना जाग्रत है वहाँ राष्ट्रीयताके नामपर ही राजनीतिक संघटन हो जाता है, लेकिन जिन देशोकी जनता बौद्धिक दृष्टिसे पिछडी हुई है वहाँ उसके अन्धविश्वासोंको उकसा कर स्वार्थ सिद्ध करनेका प्रयत्न किया जाता है। किन्तु दुर्बल आधार पर कोई भी प्रयास टिक नही सकता।

धर्म्म-युद्ध

मध्ययुगके अनेक राजनीतिक युद्धोको धर्मयुद्धका नाम दिया गया है, उन्हे इतिहासमे 'क्रूसेड' कहा जाता है। उन सभी युद्धोकी कथा पराजयसे दु खान्त है। वे युद्ध वस्तुत धर्म-युद्ध तो थे नही, उनमें स्वार्थोंके एक दलका दूसरे दलपर आक्रमण हुआ था। जो प्रबल स्वार्थी थे वे अपनी अपेक्षा दुर्बल स्वार्थियो पर विजयी हो गये।

धर्मका बल नैतिक बल है। कोई धर्मावलम्बी अपने सहधर्मी के साथ जो व्यवहार करता है उसीसे नैतिकताका परिचय मिल जाता है। यदि जीवन अनीति-ग्रस्त है तो, राजनैतिक युद्धोको धर्मके नामपर नैतिक बल नही मिल सकता।

अपने मध्ययुगीन इतिहासमे हम देखते है कि हिन्दू राजा जैसे आपसमे लडते थे वैसे ही मुस्लिम शासक भी। जिस राजसत्ताके लिए हिन्दू-हिन्दूमे संघर्ष होता था उसीके लिए हिन्दू राजाओं और मुस्लिम शासकोमे भी। इसे धर्म-युद्ध या नैतिक-युद्ध कैसे कह सकते है, यह तो सर्वथा राजनैतिक अथवा आर्थिक युद्ध था। इस तरहके युद्धोसे मन्दिरोकी ओटमें हिन्दूराज्य नही बच सका और न मसजिदोकी ओटमे मुस्लिम राज्य। हिन्दुओको मुस्लिम राजनीति और मुसलमानोको अंग्रेजी राज-नीतिने परास्त कर दिया। और अंग्रेजोको? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिने भारतसे विदा कर दिया। राजनीति ऐसी ही चञ्चला है, एकमात्र धर्म्म ही अचल है।

नि:सन्देह मानवताका कल्याण धर्म्म और उसके रक्षार्थ धर्म्म-युद्धसे ही हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि हम धर्म्म-युद्ध किसे कहें?

'महाभारत' को धर्म्म-युद्ध कहा जाता है। पाण्डवोने युद्ध किया था अपना स्वत्त्व पानेके लिए। तो क्या स्वत्त्वके लिए किये गये युद्धोको हम धर्म्म-युद्ध कह सकते है?

युद्धका धर्म्म-अधर्म्म उसके उद्देश्यमे सन्निहित है। स्वत्त्वमे यदि केवल स्वार्थ है तो वह अधर्म्म है, ऐसा स्वत्त्व राजसत्ता या राजनीतिक प्रभुताका सूचक है। आज जिसे हम युग-संघर्ष कहते है वह कही धर्म्मकी ओटमे, कही जनता और स्वतन्त्रताकी ओटमे, संकुचित स्वत्त्वो (राजसत्ताओ) का ही स्वार्थ-संघर्ष है।

स्वत्त्व तभी स्वस्तिक हो सकता है जब उससे समग्र मानवताका कल्याण हो। महाभारतके प्राङ्गणमे अर्जुनने स्वजनोके मोहसे विकल होकर कहा था—

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्य सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥

इसी निराकाक्ष मनसे धर्म्मका धारण हो सकता है।

धर्म्म-युद्धका प्राञ्जल रूप रामायणमे है। सर्वस्व-त्यागी राम न धनके लिए लड़े थे, न धरतीके लिए, न नारीके लिए। सीता-हरण न होता तो भी जिस कर्त्तव्यके लिए उन्होने वनवास लिया था, उसे पूरा करते।

रामका रावणसे युद्ध एक महत्तम लक्ष्यके लिए हुआ था, किसी संकुचित स्वार्थके लिए नही। उनका युद्ध नैतिक था, राजनैतिक नही। नैतिक राम निर्वि-

कार है। धर्म्म-युद्ध वही कर सकता है जो सांसारिक राग-द्वेषसे रहित हो। रावणके प्रति भी राम सद्भावपूर्ण थे। उनका संघर्ष व्यक्ति, वर्ग या किसी वर्णसे नहीं, बल्कि अत्याचारसे था।

यही आदर्श लेकर गान्धीजीने भारतीय स्वतन्त्रताका युद्ध लड़ा। 'युद्ध' शब्दमें द्वेष है, धर्म्म-युद्धको धर्म्माग्रह कहा जा सकता है। लेकिन धर्म्मका अर्थ सम्प्रदाय नहीं, सत्य है; इसीलिए गान्धीजीने धर्म्माग्रहको सत्याग्रह कहा। सत्याग्रहका सत्य धर्म्मका शुद्ध स्वरूप और उसका व्यापक क्षेत्र सूचित करता है।

आज सम्प्रदायोंके नामपर जो संघर्ष किया जाता है क्या उसमें सत्य है?

राजनीतिक फूट

सन् '२० में गान्धीजीने जब वृटिश सरकारके अत्याचारके विरुद्ध आवाज उठायी तब उनके सत्याग्रहमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी सम्प्रदायोंके स्वतन्त्रता-प्रेमी सम्मिलित हो गये थे। किन्तु लक्ष्य सत्य नहीं, स्वार्थ होनेके कारण कुछ महानुभाव वृटिश राजनीतिकी मायामें फँसकर साम्प्रदायिक गुटोंमें चले गये। यहाँतक कि जो यह कहते थे—

'मजहब नहीं सिखाता आपसमें वैर करना
हिन्दी है हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा'

वे भी लोभ-वश साम्प्रदायिक उत्तेजना फैलाने लगे। और तो और, जो लोग कभी क्रान्तिकारी कहे जाते थे वे भी साम्प्रदायिकताके सञ्चालक हो गये।

आश्चर्य किया जाता है कि जो कभी क्रान्तिकारी थे वे भी साम्प्रदायिक कैसे हो गये! लेकिन यह आश्चर्य्यकी बात नहीं, क्योंकि जिनकी क्रान्तिकारिता ऐहिक दुस्साहसोंमें प्रकट हुई थी उनकी प्रतिक्रिया भी वैसी ही हो गयी। क्या योरपके बड़े बड़े सेनाधिपति क्षुद्र आकांक्षाओंके भ्रमसे कर्त्तव्य-च्युत नहीं हो गये! देहात्मवादी देशोंके अनुकरणसे परिचालित कोई भी आन्दोलन आत्मशुद्ध कैसे रह सकता है!

शुद्धीकरण

हम देखते हैं कि स्वतन्त्रताके आन्दोलनसे वे सभी लोग स्वय अलग हो गये जिन्हे आगे चलकर अनुशासनपूर्वक हटाना पडता। यो कहें कि बाढकी मिट्टी जैसे स्वय कट-फटकर जलकी शुद्धतासे अलग हो जाती है वैसे ही दूषित लोग भी जीवनकी निर्म्मल साधनासे पृथक हो गये। अब भी जो लोग किसी कारण-वश गान्धीजीकी साधनासे स्वार्थ सिद्ध कर रहे है, समय आनेपर उनका भी निर्वाह नही होगा, चाहे जनताके अज्ञानसे वे कितने ही सम्मानित क्यो न हो !

सच तो यह कि बृटिश राजनीति एक निमित्त मात्र थी उन लोगोकी दुर्बलताओको उभार देनेके लिए जिनकी लोलुपता गुप्त थी। जिनकी आत्मा आस्थावान नही थी वे प्रलोभनोसे विचलित हो गये।

साधना या वासना ?

जहाँतक बाह्य एषणाओका सम्बन्ध है, मनुष्य भी एक पशु ही है। मनुष्यके साथ सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी देह है। दुर्बलताओको गुदगुदा कर मनुष्य की पशुताको जगा देना आसान है। मनुष्य प्रकृतिस्थ अथवा आत्मस्थ रह सके, इसीलिए साधनाकी आवश्यकता है।

धर्म्मके नामपर जिन लोगोने साम्प्रदायिक उत्तेजनाओका साथ दिया, उनमे साधना नही, वासना थी ; चाहे वह सुखकी हो, वैभवकी हो, यशकी हो, प्रभुत्त्वकी हो।

साम्प्रदायिक लोग धर्म्मका रथ वैसे ही खींचते आ रहे हैं जैसे भारवाही पशु। जहाँ सारथी नही, सब स्वार्थी ही स्वार्थी है वहाँ साम्प्रदायिक संघर्ष ही सम्भव है, कोई धार्म्मिक उत्कर्ष नही।

विश्वराज्य

मान लीजिये, देशके कोने-कोनेमे साम्प्रदायिक राज्य स्थापित हो जायँ तो इसका परिणाम क्या होगा ? इसका उत्तर मध्यकाल और बृटिश शासनकाल

की हिन्दू-मुस्लिम-सिख रियासतों तथा सम्प्रति पाकिस्तानकी हालत है। साम्प्रदायिकता सामन्तवाद और पूँजीवादका संघटन है। जो लोग जनताको अपनी-अपनी साम्प्रदायिक रैय्यत बनाकर जन-शोषणसे अपना स्वर्ग बसाना चाहते हैं, वे रक्षक नहीं, भक्षक हैं; 'उघरे अन्त न होंहि निवाहू।'

गान्धीजी जिस रामराज्यका स्वप्न देखते थे वह किसी एक सम्प्रदाय या एक देशका नहीं, बल्कि विश्वमात्रका था। आज किसी एक सम्प्रदाय या एक देशकी जनता अपनी तीन लोकसे न्यारी नगरी बनाकर निश्चिन्त नहीं रह सकती। मध्ययुगकी ऐतिहासिक सीमाओंको पारकर सबकी भौगोलिक दूरियाँ दूर होती जा रही हैं।

आन्तरिक आधार

भविष्यदर्शी विचारक एक विश्वराज्यकी कल्पना करने लगे हैं। आगे-पीछे सारे संसारकी एकसी संकटकालीन स्थितिमें यह सम्भव है।

संकटसे परस्पर एक होनेका सुयोग मिल सकता है, लेकिन संकटकालीन स्वार्थके कारण जो एकता होगी वह चिरस्थायी नहीं हो सकती। ग्रीष्मकालमें तो आत्मत्राणके लिए सभी कोमल-कराल जीव एक हो जाते हैं, उस समय ऐसा जान पडता है कि दुस्सह निदाघने सबको सहिष्णु प्राणी और संसारको तपोवन बना दिया है। किन्तु संकट टल जानेपर प्राणियोंकी प्रतिकूलता और विषमता फिर सामने आ जाती है। अतएव, चिरस्थायी एकताके लिए उसका सुदृढ आधार निश्चित कर लेना चाहिये। सच्ची एकताका आधार क्या होगा? राजनीति या धर्म्म?

राजनीतिक आधारपर होनेवाली एकता राष्ट्रोंकी सन्धिकी तरह टूट जाती है। जहाँ एकताका आधार जड-स्वार्थ है वहाँ प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक दल केवल अपनेको ही महत्त्व देता है। मनुष्य अपनी ही तरह दूसरोंको भी जीवधारी समझे इसीके लिए उसे धर्म्म अर्थात् चैतन्य विकासकी आवश्यकता है। जीवनके ऐसे ही विकासमें बाह्य एकता आन्तरिक आत्मीयता बन सकती है।

सांस्कृतिक चेतना

इस युगमे धर्म्म एक पाखण्ड समझा जाता है, क्योकि उसका कोई सदुपयोग नही हो रहा है। यदि हम मनुष्यके मनोविकासको सास्कृतिक विकासके रूपमे पहिचाने तो धर्म्मका ध्येय स्पष्ट हो सकता है। वस्तुओके नाम-रूपकी तरह धर्मका भी नाम-रूप वदलता जा रहा है। यदि मनुष्य केवल यन्त्र नही है तो किसी भी नाम-रूपमे उसे अपनी सजीवताकी साधनाके लिए अग्रसर होना पडेगा।

सास्कृतिक प्रयासोका नाम धर्म्म इस लिए पड गया कि मनुष्यके सासारिक उद्योग अधम (अधर्म्म) न हो जायँ। मनुष्यके लिए जो कुछ श्लाघ्य है, उत्तम है. उसीका प्रेरक है धर्म्म।

जीवनकी समस्याका वाहरी रूप भौतिक है और भीतरी रूप सास्कृतिक। आज समस्याके दोनो रूप विकृत और विकट होकर प्रकट हुए है। वाहरी रूप अन्न-वस्त्रके अकालमे प्रकट हुआ है और भीतरी रूप धर्म्मोन्मादमे।

समस्या तो भीतरसे ही सुलझ सकती है। वाहरी विकार तो भीतरी रोग का ही परिणाम है। शरीरके स्वार्थोको पशुकी भाति पुष्ट करनेके लोभमे मनुष्य मनोविकास या स्वस्थ हार्दिकताकी ओर ध्यान नही दे सका। फलतः उसके प्रयत्नों मे समरसताके स्थानपर विषमता आ गयी। आज समाज ही नही, परिवार भी एक नही रह गया है, स्वार्थने उसे भी छिन्न-भिन्न कर दिया है। मनुष्य आज आदि-कालकी, जीव-जीवके भक्षणवाली अवस्थामे पहुँच गया है।

मनुष्यका जो मनोविकास लुप्त हो गया है उसे फिरसे उसके भीतर प्रतिष्ठित करना होगा। सहचेतना, समवेदना, सद्भावना आदि सद्वृत्तियोमे ही मानव-सस्कृति है। अलग-अलग देशोकी भाति उसकी आकृति (सामाजिक अभिव्यक्ति) अलग-अलग हो सकती है, लेकिन मनुष्यमात्रकी सस्कृति वैसे ही एक है जैसे उसकी प्राकृतिक इन्द्रियाँ एक है।

सस्कृति क्या है? यह तो इस शब्दकी व्यञ्जना (सस्कारिता) से ही ध्वनित है। इन्द्रियोका प्राकृत स्वभाव जिससे सुसंस्कृत वन जाय वही सस्कृति है। वह देहके ऊपर देहीकी साधना है।

धर्म्मके अन्तर्गत संस्कृतिके साथ उसका आचार-विचार भी है। सांस्कृतिक दृष्टिसे धर्म्म तो एक है, किन्तु आचार-विचारके कारण सम्प्रदाय (धार्म्मिक प्रकार) अनेक हैं। सम्प्रदाय धर्म्मकी साधनाके विविध आयतन हैं। जहां धर्म्म नहीं, केवल आयतन है, वहाँ साम्प्रदायिकता है।

स्वार्थोंकी माया

इस दृष्टिसे देखें तो देशमें जो साम्प्रदायिक दंगे हुए उन्हें धार्म्मिक तो कहा ही नहीं जा सकता, तात्त्विक दृष्टि से साम्प्रदायिक भी नहीं कहा जा सकता। धर्म्म यदि सचेतन है और सम्प्रदाय उस सचेतनके सारवाह हैं तो उनमें संघर्ष क्यों होगा! वे दंगे तो सर्वथा भौतिक अथवा आर्थिक संघर्ष थे, जिन्हें साम्प्रदायिक रंग दे दिया गया।

आर्थिक संघर्षोंको साम्प्रदायिकताका रूप उन लोगोंने दिया जिनका पूंजीवादी स्वार्थ इस जन-जागरणके युगमें सुरक्षित नहीं था। शोषित जनताको अपनी वस्तुस्थितिसे अनभिज्ञ बनाये रखनेके लिए बृटिश सरकारने भी साम्प्रदायिकताको इसलिए बढ़ावा दिया कि साम्राज्यवादका भाग्य पूंजीवादपर ही निर्भर है। सरकारके हाथ-पाँव पूंजीपति (जमींदार, महाजन, बैंकर) थे और पूंजीपतियोंके हाथ-पाँव साम्प्रदायिक जनता जिसकी धर्म्मभीरुताको धर्म्मके नामपर उत्तेजित किया जाता है।

ज्यों-ज्यों बृटिश सत्ता अस्तोन्मुख होती गयी त्यों-त्यों पूंजीपतियोंका स्वार्थ और साम्प्रदायिक जनताका धर्मोन्माद बढ़ता गया। द्वितीय महायुद्धमें साम्राज्यवाद की शक्ति निर्बल हो जानेके कारण जब अंग्रेजोंको इस देशसे विवश होकर हटने की नौबत आ गयी तब उन्होंने युद्धकालमें बरमासे भागते समय जिस सर्वक्षार-नीतिका परिचय दिया था उसीका परिचय इस देशमें भीषण साम्प्रदायिक दंगों (गृहयुद्ध) का दावानल धधकाकर दिया। आज पाकिस्तानके रूपमें वे साम्प्रदायिकताकी अग्निशलाका छोड़ गये हैं।

साम्प्रदायिक दंगोंके पीछे यदि भावना धर्म्मकी होती तो उस भावनाका परिचय सामाजिक जीवनमें भी मिलता। लेकिन सामाजिक जीवनमें हम देखते

है कि हिन्दू और मुस्लिम करोड़पति अपने-अपने हलवे-माँड़ेमें लगे हुए है और दोनो सम्प्रदायोकी जनता दाने-दानेके लिए तरस रही है। बगालके अकालमे जिन लोगोने अपनी व्यापारिक दस्युतासे भुखमरी फैला दी और अब भी देशव्यापी अकालमे जिनकी दस्युवृत्ति बनी हुई है, वे क्या धर्म्म, सम्प्रदाय और समाजके शुभचिन्तक है ?

आज साम्राज्यवादकी तरह सम्पत्तिवादके दिन भी गिने-गिनाये है। दूसरे महायुद्धने साम्राज्यवाद और पूँजीवादको जडसे हिला दिया है। वह आगे चल नही सकता। फिर भी उसे जबतक बचाया जा सके, बचानेका यत्न किया जा रहा है। स्वार्थी लोग जनताको भूलभुलैय्यामें डालकर उसकी धार्म्मिक श्रद्धामे अनुचित लाभ उठाना चाहते है। वे अपने साम्प्रतिक लाभको ही देख रहे है, आने वाली पीढीका भविष्य और पीडित जनताका हिताहित उनके सामने नही है।

प्रतिगामियोंका प्रयास

कभी अन्यायी राजाको भी ईश्वर बताकर उसकी सत्ताका दैवी समर्थन किया जाता था, अब सम्पत्तिवादका समर्थन न्याय, धर्म्म और परम्पराओके नाम-पर किया जा रहा है।

बृटिश शासनकालमे जिनका न्याय और धर्म्म सोया हुआ था उनका न्याय और धर्म्म-प्रेम स्वतन्त्रताके इस सकट-कालमे जग गया है। परम्पराओकी बात वे इसलिए कहते है कि जिन प्रतिगामियोके सहयोगसे बृटिश शासन कायम था उन लोगोका एक संयुक्त दल स्थापित हो जाय।

परम्पराओके अन्तर्गत जमींदारी भी आ जाती है। जनमत जमींदारीके विरुद्ध है, अतएव उसकी रक्षाके लिए न्याय और धर्म्मकी दुहाई दी जाती है। ज्यो-ज्यो आर्थिक असन्तोषके कारण सम्पत्तिकी स्थापित श्रेणियोको तोडनेके लिए जनता उद्यत होती जायगी त्यो-त्यो न्याय, धर्म्म और परम्पराकी दुहाई भी बढती जायगी। आज जमींदारीके लिए तो कल महाजनीके लिए, परसो मन्दिरो और मठोके लिए। लेकिन धर्म्मके नामपर जनतामे और स्वत्त्वके नामपर धनिकोमें अपना नेतृत्त्व बनाये रखनेके लिए साम्प्रदायिक नेताओका यह प्रयत्न चल नही

सकेगा। सरकार अपनी परेशानियोके कारण स्थापित स्वार्थोको भले ही कुछ अवकाश दे दे, लेकिन समय किसीके लिए रुका नही रहेगा।

जनशक्ति

धर्म्मगुरु श्री करपात्रीजी कहते है—"यदि समस्त सम्पत्ति राज्यकी ही हो जाय और जनशक्ति सर्वथा सम्पत्तिहीन हो जाय तो सरकारकी इच्छा सब कुछ होगी। व्यक्तिगत विकास, व्यक्तिगत श्रद्धा-विश्वास, धार्म्मिक और पारलौकिक कार्योके लिए लोगोकी जो भावनाएँ होगी उनका सर्वथा शमन हो जायगा और इस प्रकारके कार्य्य सर्वथा नष्ट-से हो जायेगे, क्योकि उनके करनेका सम्बन्ध वैयक्तिक श्रद्धापर ही होता है। लोककल्याण करनेकी बात तो स्वेच्छासे ही होती है, राज-सत्ता द्वारा नही।"

करपात्रीजीने अपने इस कथनमें सम्पत्तिके साथ जिस 'जनशक्ति' को सम्बद्ध किया है वह जनशक्ति क्या है ? क्या जमीदारो या अन्य धनिकोका सम्पत्ति पर स्वत्वाधिकार जनशक्ति है ? वह तो निरंकुश वैयक्तिक अधिकार है और पिछली राजसत्ताओका ही आविष्कार है।

जनशक्ति तो जन-स्वावलम्बनमे है। प्रत्येक व्यक्ति यदि आर्थिक दृष्टिसे स्वावलम्बी हो जाय तो वह व्यक्तित्वके विकासके लिए हार्दिक प्रयत्न करने लगेगा। अभी तो वह कही आर्थिक भारसे और कही दैवी प्रकोपसे दबा हुआ है। वह धर्म्म-प्राण नही, धर्म्मभीरु है। आर्थिक दृष्टिसे जो लोग सम्पन्न है वे कम देकर परलोकमे अधिक पाना चाहते है, साथ ही दान, दया, दक्षिणा द्वारा स्वय इस लोकमे उच्च और निर्धनोको दीन-हीन मुखापेक्षी बनाये रखना चाहते है। इससे जनशक्तिका ह्रास होता है। हमे ऐसी आर्थिक व्यवस्था चाहिये जिसमे कोई किसीकी कृपा या करुणाका मोहताज न हो। मानवताके स्वाभाविक गुणो (स्नेह, सहयोग, सौहार्द, सद्भाव) से ही प्राणिमात्रका कल्याण होगा। करुणा या कृपाकी सार्थकता वही हो सकती है जहाँ संकट दैवी हो। मनुष्यकृत संकट तो मानव-विवेकसे ही दूर किया जा सकता है।

सम्पत्तिपर वैयक्तिक अधिकार तथा राज्यका एकाधिकार, दोनों ही जन-स्वावलम्बनके मार्गमें बाधक हैं। आर्थिक दृष्टिसे जन-स्वावलम्बनका मार्ग वही है जिसे गान्धीजी अपने रचनात्मक कार्य्यों द्वारा दिखा गये हैं।

प्रायश्चित्तका अवसर

कहा जा सकता है कि गान्धीजी सम्पत्तिको धनिकोंके ट्रस्टीशिपमें देखना चाहते थे। ट्रस्टीशिप से गान्धीजीका अभिप्राय यह था कि धनवान वस्तुस्थितिको समझें। धन उनके पास जनताके विश्वासकी धरोहर है। धर्म्म इसीमें है कि जनता की धरोहर जनताको दे दी जाय। गान्धीजी बार बार चेतावनी देते थे कि धनका सार्वजनिक सदुपयोग न होनेपर आगे आनेवाले लोग धनिकोंके आर्थिक प्रभुत्वको नहीं मानेंगे। गान्धीजी धार्मिक दृष्टिसे सुधारक होते हुए भी आर्थिक दृष्टिसे धनकी प्राचीन परम्परा (त्याग और लोकसेवा) का संकेत कर रहे थे। लेकिन धनिकोंने समय रहते उनकी बात नहीं मानी। अब उनके मानने-न-माननेकी वक़्त नहीं है। परिस्थितियाँ उनके अनुकूल नहीं हैं। चाहे तो गान्धी-स्मारक-कोषमें सर्वस्व देकर प्रायश्चित्त कर सकते हैं। लेकिन वे अब भी भूले हुए हैं।

ट्रस्टीशिपकी एक अवधि होती है। जबतक मदान्ध बृटिश शासन बना हुआ था तबतक उसकी आर्थिक रीति-नीतिसे मतिभ्रष्ट धनिकोंमें धार्म्मिक परम्परा के नाम पर ही अपील की जा सकती थी। लेकिन अब जब कि विश्वव्यापी अकालमें देश विपन्न हो गया है, जन-जनके स्वावलम्बनसे ही परित्राण हो सकता है। इस युगमें जनता ही जनार्दन है। जनता कबतक नाबालिग (परावलम्बी) बनी रहेगी। धनपर धनिकोंके ट्रस्टीशिपका समय बृटिश राज्यके साथ समाप्त हो चुका है।

जनताकी माँग

जो लोग साम्प्रदायिकताकी ओटमें आर्थिक व्यवस्थाको शोषणके युगमें खींचना चाहते हैं, वे न तो धनिकोंके शुभचिन्तक हैं, न जनता के। वे आत्म-लोलुप हैं।

अकाल-पीडित ससारका खाली मजहवी जोगसे कैसे पेट भर सकता है ! जो नेता मजहवी जोग दिलाते है उनसे जनताको कहना चाहिये कि पहिले हमारे अन्न-वस्त्रकी समस्या हल करो। अन्न-वस्त्रकी समस्या हल करनेके लिए आगे-पीछे जो नयी अर्थ-व्यवस्था प्रचलित होगी उसमे साम्प्रदायिकताका नेतृत्व टूट जायगा। जनता तभीतक धर्म्मकातर वनी हुई है जवतक वह इस लोकमे दारिद्र्य-पीडित है और दूसरोके पापोसे पथभ्रष्ट होकर परलोकके लिए भयभीत है। जनता अपने कष्टोसे ही जाग्रत और सचेष्ट होगी।

जव साम्प्रदायिक छलछद्म नही रह जायगा तव भी धर्म्म और सम्प्रदाय भाव और छन्द-की तरह वने रहेगे। सुविज्ञ और सुखी जनता अपनी सुरुचिसे धर्म्म और सम्प्रदायकी जीवन्त प्रेरणा ग्रहण करेगी, अपनी रसविदग्धतासे 'कवीर्मनीषी परिभू स्वयभू' को अपने जीवनमे साकार और सजीव करेगी।

सम्प्रदाय और राजनीति

धर्म्म और सम्प्रदाय यदि जीवन-निर्म्माणके श्रेष्ठ सम्वल है तो फिर साम्प्रदायिकता क्या है ?

करपात्रीजी कहते है—"सम्प्रदाय शब्द कही भी घृणामलक नही, परन्तु आजकल इसका प्रयोग किसी समूह एव वर्ग विशेषके हिसा और आग्रह सहित विशिष्ट विचारधारामे होता है। इस दृष्टिसे काग्रेस-पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी, समाजवादी पार्टी, आदि पार्टियाँ सवसे अधिक 'सम्प्रदाय' कही जा सकती है। उपर्युक्त पार्टियाँ भी एक विचारधारामे आग्रहपूर्वक दृढ विश्वास रखती है और दूसरी पार्टीकी सत्ता नही सहन कर सकती। उक्त पार्टियाँ अपने उद्देश्य-सिद्धिके लिए हिंसाके प्रयोगको भी गर्हित नही मानती, कोई-कोई तो हिंसामे ही पूर्णरूपेण विश्वास करती है। परन्तु हमारे सनातन वैदिक धर्मी सम्प्रदायमे तो अत्यन्त विरुद्ध विचार-धारा रखनेवाले द्वैत-अद्वैतवादी ही नही, अपितु परस्पर विरोधी विचारधाराओ वाले चार्वाक एव अद्वैतवादी भी अत्यन्त प्रेमसे रहे है।"

इन वाक्योमे जिस विचार-सहिष्णुताका उल्लेख किया गया है वह प्रशसनीय है। लेकिन केवल विचार ही नही कुछ रचनात्मक कार्य्य भी होना

चाहिये। निषेधात्मक प्रचारसे ही जीवनका निर्म्माण नहीं हो जायगा। अकर्म्मण्यताके कारण धार्मिक पार्टियाँ भी उतनी ही कुत्सित हैं जितनी विपथ-गामिताके कारण राजनीतिक पार्टियाँ।

सच तो यह है कि धार्म्मिक पार्टियाँ विना त्याग किये ही जनतापर अपना प्रभुत्व वनाये रखनेका प्रयत्न करती आ रही हैं। वृटिश शासनमें वे शासकोका गुणगान करती रही है, उस समय उन्होने सरकारके विरुद्ध अपना एक भी आन्दोलन नही छेड़ा, उलटे राष्ट्रीय जागृतिके विरुद्ध अपना प्रतिक्रियावादी प्रयास आरम्भ किया। यदि इन धार्म्मिक पार्टियोके हाथमे शासन-सूत्र आ जाता तो जनतन्त्रके वजाय सामन्तशाहीका वोलवाला होता।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि किसी भी पार्टीका—(चाहे वह धार्म्मिक हो या राजनीतिक)—जनता भरोसा नही कर सकती। प्रभुता पाकर किसे मद नही हो जाता! जनताका दर्द किसीको नही है, सव उसे अपनी अपनी रैय्यत या जजमान वनाकर उसका दोहन करना चाहते है। अपना व्यय-भार जनतापर रखकर कोई भी नेतृत्व निःस्वार्थ नही हो सकता।

जनताका उद्धार उसीके सामाजिक स्वावलम्वनसे होगा। जो पार्टियाँ सत्ताको अपने हाथमे वनाये रखनेके लिए आतुर है उनसे जनसाधारणकी स्थितिमें अन्तर नहीं पड सकता। जनता तो यही कहेगी—

कोउ नृप होहु हमें का हानी।
चेरि छाँडि न होउव रानी॥

जनताकी पूर्ण मुक्ति तो उस रामराज्यसे ही हो सकती है जिसका लक्ष्य जन-कल्याण हो, न कि अपने-अपने अहम्‌का पोषण।

दलवन्दियोसे दूर रहकर जो मनुष्य हृदयकी शुद्ध साँस (सांस्कृतिक साँस) फेकेगा उसीकी सुगन्ध पाकर मुमूर्ष समाज सञ्जीव हो उठेगा। एक व्यक्तिके भी शुद्ध हृदयसे वायुमण्डलमे प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है। यही प्रेरणा गान्धीजी उत्पन्न कर गये हैं। कांग्रेसमे रहकर भी वे कांग्रेसमें नहीं थे, उससे अलग भी हो गये थे। कांग्रेसको वे लोकसेवक संघ वना देना चाहते थे।

यद्यपि गान्धीजीके आदर्शोको देखते हुए कोई भी राजनीतिक पार्टी प्रशंसनीय नही कही जा सकती तथापि राजनीतिक पार्टियाँ आर्थिक प्रश्नोको धार्म्मिक प्रवञ्चनाओमें ओझल नही कर देती। वर्ग-विशेपके स्थिर स्वार्थोकी रक्षाके लिए धार्म्मिक गुटवन्दीको हम साम्प्रदायिकता कहते हैं।

इस साम्प्रदायिकताका वोलवाला साहित्यमे, समाजमे, संस्कृतिमे, राजनीतिमे, सर्वत्र है।

धर्म्मका ह्रास

वस्तुत धर्म्म तो कही है ही नही। धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्षमें अर्थ और कामका ही वोलवाला है।

अर्थ-कामनाकी दृष्टिसे धर्म्म भी व्यवसाय वन गया है। 'हेतु-रहित अनुराग रामपद' तो कही दिखाई नही पडता।

आज तो ईश्वरके साथ मनुष्यका सम्वन्ध उस हाकिमकी तरह हो गया है जिसे प्रसाद चढ़ाकर (उत्कोच देकर) खुश किया जा सकता है। परलोकका मार्ग भी पैसेसे ही वनाया जा सकता है।

यहाँ गान्धीजीकी उस काशी-यात्राका स्मरण आता है जव दक्षिण-अफ्रीकासे आनेपर उन्होंने पहली वार विश्वनाथ-मन्दिरमे पदार्पण किया था। अर्थपरायणता, कोलाहलकी तीव्रता, गुडोकी उद्दण्डता, मार्गकी सकीर्णता और चारो ओरकी अस्वच्छता देखकर उन्होने यह निष्कर्प निकाला—'परमात्माकी दयापर जिसे शंका हो वह ऐसे तीर्थक्षेत्रोको देखे, वह महायोगी अपने नामपर होनेवाले कितने ढोग, अधर्म्म और पाखण्ड इत्यादिको सहन करते हैं!'

अस्पृश्यता

अभी हालमे जगलाल चौधरी जव विश्वनाथ के मन्दिरमें गये थे तव सनातनी समाजमे कुहराम मच गया था। उनके चले जानेपर मन्दिरका विधिवत् शुद्धीकरण किया गया।

हम किसी धर्म्मके आचार-विचारके सम्बन्धमे कुछ नही कहना चाहते। लेकिन यह अवश्य चाहते है कि आचार-विचारका परिचय नित्यजीवनमे भी मिलना चाहिये। केवल धार्म्मिक क्रियाकाण्डमे ही धर्म्मकी मर्य्यादा नही है। घर-द्वार, हाट-बाट, रहन-सहनमे भी उस शुचिताका दर्शन मिलना चाहिये जिसका अभ्यास हम मन्दिरोमे करते है। हमारा जीवन ही धर्म्मका सच्चा दृष्टान्त वन सकता है। धर्म्मका परिचय जीवनमे न मिलनेके कारण ही विरोधियोको अवसर मिलता है।

एक ऐसे वुभुक्षित युगमे जव कि सभी वर्णोका मन मलिन और तन 'खेहर-खाउ' वना हुआ है, किसे अस्पृश्य कहा जाय और किसे सस्पृश्य ! मन्दिरके कपाट चाहे अछूतोके लिए वन्द रखे जायँ अथवा कानूनके जोरसे सवके लिए खोल दिये जायँ, इससे धर्म्मका ह्रास या अभ्युदय कुछ नही होता। यदि धर्म्मका अनुराग हो तो मन ही मन्दिर वन सकता है, पूजाका स्थान घरमें वनाया जा सकता है। अछूत यदि अपने घरोमें पूजा नही कर सकते, उनका धर्म्म सवर्णोके मन्दिरमे जानेसे ही सार्थक हो सकता है तो यह किसी सद्भावका सूचक नही है।

सच तो यह है कि आर्थिक विषमताने सारे समाजमे प्रतिस्पर्द्धाकी जो दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है वही प्रवृत्ति नानारूपोमे व्यक्त हो रही है; कही वर्ण-सघर्षके रूपमे, कही वर्ग-सघर्षके रूपमे, कही राष्ट्र-सघर्षके रूपमे, कहीं सपत्ति-विषयक घरेलू झगडोमें। इन सघर्षोमे मानवताका तो कही कणमात्र भी नहीं है, फिर अछूतोके मन्दिर प्रवेशसे ही मानवताका उद्धार कैसे हो जायगा ?

अछूतोद्धारका तरीका ठीक नही है। अछूतोद्धारके लिए उन्ही लोगोका उत्साह अधिक उमडा हुआ है जो तन,मन, वचनकी शुद्धताके लिए कोई साधना करनेका कष्ट नही उठाना चाहते। चाहे जिस पात्र-अपात्रमे यहाँ-वहाँ भक्ष्य-अभक्ष्य खा-पी लिया और कोयले या पेट्रोलसे चलनेवाली मशीनकी तरह समाज-सुधारके लिए दौड लगा दिया ! यह जीवनका कोई स्वस्थ लक्षण नही है। जो स्वयं अपना ही सुधार नही कर सके है वे भला अछूतोद्धार कैसे कर सकते है ?

अस्पृश्यताका एक निर्दोष पहलू भी है। सवसे वडा अस्पृश्य तो मनुष्यका यह शरीर है। विना दातुन किये हम अपने मुखमे भी अन्न नही डालते। अस्पृश्यता किसीके प्रति घृणाके लिए नही, अपितु आत्मशोधनके लिए है।

मनुष्यके अन्तर्बाह्य शौचके लिए जो कुछ वाञ्छनीय है उसीका नाम धर्म्म है।

आज अन्तर्बाह्य शौच न तो रूढिवादी धर्म्म-धुरीणोमे रह गया है, न आधुनिक सुधारकोमे। एक ऐसे अर्थलुब्ध युगमें जब कि व्यापक अशुद्धिसे ससारका सारा वातावरण दूषित हो गया है, केवल मन्दिरोके शुद्धीकरणसे ही धर्म्म कैसे शुद्ध रह सकेगा।

गोरक्षा

आजकल गोरक्षाकी पुकार हो रही है। गोरक्षा ही नही, जीवमात्रकी रक्षा अवश्य होनी चाहिये। यह तबतक सभव नही है जबतक मनुष्य शोषणकी नीति लेकर चल रहा है।

जिस धर्म्ममे गोरक्षाका माहात्म्य है उस धर्म्मके लोग भी गौके साथ जैसा व्यवहार करते है वह दुर्दान्त है। गायको फूका लगाना, काँटेदार पैनेसे कोचना, पेटभर खाना न देना, बछवेका हिस्सा भी अपने लिए दुह लेना, मरे हुए बछवेके शवमे भूसा भरकर गौकी ममताको भुलावा देना, पेट भरनेके लिए गौको इधर-उधर छोड़ देना, घायल या पीड़ित अगोका इलाज न करना, यह सब क्या गो-भक्तिका सूचक है?

गौकी रक्षामे जीवनका जो उज्ज्वल दृष्टिविन्दु है, सम्प्रति वह ओझल हो गया है। गो-सेवाका स्थान स्वार्थने ले लिया है। यदि स्वार्थ ही धर्म्म है तो अन्य दुधारू पशुओको गौ जितना महत्त्व क्यो नही दिया जाता? वस्तुत गौ तो अहिंसाका एक प्रतीक है। जैसी उसकी सौम्यमूर्ति है वैसी ही उसकी प्रकृति भी। प्रेम-पूर्वक जीना और जिलाना, यही गोमाताका सन्देश है।

जो आततायी है उनसे हमें कुछ नही कहना है, लेकिन जो वैष्णव है वे क्या सचमुच अहिंसक है? शरीरपर धर्म्मचिह्नोको धारण करना ही वैष्णवता नही है, वह तो कपड़े या कागजपर धार्म्मिक चित्रकारी करने-जैसा है। धर्म्म तो मनुष्यके मर्म्मद्रवणमें है—

'वैष्णव जन तो तेने कहिये
जे पीर पराई जाणे रे,
परदुःखे उपकार करे
तोए मन अभिमान न आणे रे !'

हमारे आचरणमे धर्म्मका यह अन्त करण कहाँ दिखाई पडता है !

सौम्य मार्ग

यदि हम गोरक्षा करना चाहते है तो गोमाताका सरल व्यक्तित्त्व अर्थशास्त्र में स्थापित करना चाहिये। सारे संसारका अर्थशास्त्र जबतक अहिंसक नही हो जाता तबतक मानवताका उद्धार नही हो सकता।

ये बार बारके अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध क्या मानवताके लिए प्रयत्नशील है ? मानवताका मार्ग यन्त्र, तन्त्र, आयुध, यानसे नही प्रशस्त हो सकता।

हमें मनुष्यके उद्योगो और तज्जनित अर्थशास्त्रको सौम्य बनाना है। इसके बिना साम्यवाद भी एक राजनीतिक विडम्बना है। 'साम्य' से लक्ष्याभास तो मिलता है, लेकिन उसमे साधन और साध्यकी वह सचेतन सुपरिणति नहीं जो सौम्यमे है। सौम्यमे साम्य हो सकता है लेकिन साम्यमें सौम्य निश्चित नही। सौम्यमे समस्त सृष्टि माताके स्तन्यकी तरह सारवती है।

सौम्य मार्ग वही है जिसे गान्धीजी अपने ग्रामोद्योगोंमे दिखा गये है। उसीसे गोरक्षा होगी, उसीसे सास्कृतिक विकास होगा और उसीसे सामाजिक सौहार्द बढेगा।

यद्यपि आजकी सभी समस्याओको सुलझानेके लिए सात्त्विक आर्थिक व्यवस्थाकी आवश्यकता है, तथापि आनुषगिक रूपसे कलात्मक साधनोंसे भी सहायता ली जा सकती है।

साम्प्रदायिक एकताके लिए कविता, कहानी और चित्रकलासे चित्तपर प्रभाव डाला जा सकता है।

राष्ट्रीय गीतोंकी तरह भावमय सास्कृतिक गीतोकी भी रचना होनी चाहिये। केवल 'ईश्वर अल्ला एकै नाम' से हृदय नही उभरता। 'तुम राम

कहो वे रहीम कहे, मतलब तो उसीकी चाहसे है' इस सरस पंक्तिसे हृदय उभरता है। काव्यकी सरसतासे ही हृदय उभर सकता है। संकीर्तनमे केवल कीर्तन ही नहीं है, उसमे संगीतका रसमाधुर्य्य भी है। संगीतके कारण धर्म्म भावात्मक है।

संकीर्तनके बाद व्याख्यान नही, सभी धर्म्मोकी मनोहर कथाओका आख्यान होना चाहिये। इन कथाओका मौखिक और मुद्रित रूपमे प्रचार किया जा सकता है। मुद्रित कथाओंमे कुशल कलाकारो द्वारा अंकित भावपूर्ण प्रासंगिक चित्र रहने चाहिये।

मार्म्मिक धार्म्मिक, कथाओंकी तरह ही सब धर्म्मोंके भक्तिमूलक गीतो का भी संकलन होना चाहिये।

धर्म्मस्थानो और सांस्कृतिक उत्सवोंमे साम्प्रदायिक एकताके चित्र प्रदर्शित किये जा सकते हैं। इन चित्रोमें प्रेमपूर्ण घरेलू जीवनका निरूपण होना चाहिये। सभी घरोमे एक ही जैसे स्पन्दनशील, संवेदनशील प्राणी है। आबाल-वृद्ध-वनिता जिस तरह एक कुटुम्ब बनाकर रहते हैं उसी तरह सभी धर्म्मोके अनुयायी एक सांस्कृतिक समाज बनाकर रह सकते हैं।

काशी,
विजयादशमी, सं० २००५

तुलसीदासका सामाजिक आदर्श

गोस्वामी तुलसीदासके सामाजिक आदर्शको समझनेके लिए पहिले उनके मानस-जगतको हृदयङ्गम कर लेना चाहिये। उनका मानस-जगत (मनोजगत) 'सियाराम-मय' है, उनका अहर्निश निवास रामराज्यमे है। उनके सीताराम विश्व-प्रेमी है, उनका रामराज्य स्नेहका साम्राज्य है। ऐसे व्यक्तित्त्व और ऐसे चक्र-वर्तित्त्वकी मङ्गल छायामे समाज कितना सुखी था—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिनीती॥

वर्त्तमान हाहाकारपूर्ण युगमे तुलसीदासके इस स्वर्गीय सामाजिक जीवनकी भला कौन कल्पना कर सकता है! यह तो कल्मषोका युग कलियुग है—'कलि केवल मल-मूल-मलीना।' इस दूषित युगसे उसीका उद्धार हो सकता है जिसे तुलसीके रघुवीर अपनी शरणमे ले ले।

तुलसीके रघुवीर केवल अयोध्याके राजा रामचन्द्र नही है। वे तो विश्वप्राणके प्राणेश्वर है, चराचर सृष्टिके मर्म्मकेन्द्र है; सबमे रमकर राम है।

सबके अन्त.करणमे रमणशील वही निर्गुण निराकार राम सामाजिक दृष्टिसे सगुण, साकार, अवतार-पुरुष है, वे प्रेमाधीन है—

व्यापक ब्रह्म निरंजन
निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम-भगति-वस
कौसल्या के गोद॥

समाजके मूलाधार

रामका निर्गुण स्वरूप निरपेक्ष है, सगुण-रूप सापेक्ष है। सापेक्ष रूपमें वे ज्योतिर्म्मय लोकपुरुष हैं युगावतार हैं। धर्म्मकी रक्षा और अधर्मके नाशके लिए उनका अवतार होता है—

जब जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।
सीदहिं विप्र, धेनु सुर, धरनी॥
तब-तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

तुलसीका रामराज्य धर्म्मराज्य है। धर्म्म वह जिससे समाजका कल्याण हो, अधर्म्म वह जिससे समाजका ह्रास हो। समाजके अभ्युदयके मूल आधार ये हैं—विप्र, धेनु, सुर, धरनी।' इन्हीं सात्त्विक स्तम्भोके ऊपर तुलसीदासका सामाजिक आदर्श टिका हुआ है। तुलसीदासके ये सामाजिक स्तम्भ केवल धर्म्म-मूलक ही नही, तथ्यमूलक भी हैं। धेनु और धरणीकी उपेक्षा करके भला कौन समाज जीवित रह सकता है! गोसंहार और पृथ्वीपर मशीनोके अत्याचारका दुष्परिणाम आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

तुलसीदासका आदर्श समाज इस उच्छृंखल युगका विशृंखल समाज नही है, बल्कि वह देश, काल, पात्र और स्थितिके अनुरूप सुविन्यस्त है। स्वस्थ दिनचर्य्या की तरह ही उनकी समाज-व्यवस्था भी सुशृंखलित एवं सुसम्बद्ध है। इस समाज-व्यवस्थाका सर्वसुगम रूप वर्णाश्रम है।

वर्णाश्रम

वर्णाश्रम . समाज और व्यक्तिके सम्यक् विकासके लिए है। वर्णव्यवस्थामे समाजका और आश्रम-व्यवस्थामे व्यक्तिका मनोवैज्ञानिक विकास-क्रम है। बचपन, यौवन, प्रौढता और वार्द्धक्य, जीवनकी इन चार अवस्थाओकी तरह ही समाज और

व्यक्तिकी परिणतियाँ भी चार वर्णों और चार आश्रमोंमें हुई हैं। ये अपनी-अपनी परिधिमें परिपूरक हैं—वर्णव्यवस्थामे समाजका कर्म-संयोजन है ; आश्रम-व्यवस्थामे व्यक्तिकी चित्तवृत्तियोका नियोजन है।

इस वर्णाश्रम-व्यवस्थामे वर्णोंके गुरु विप्र हैं, आश्रमोके गुरु परिव्राजक हैं। ये ही दोनों समाजमें मनुष्यके मन, वचन और कर्मको सन्तुलित रखते हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था सामूहिक और वैयक्तिक जीवनको काव्यकी तरह छन्दोबद्ध बनाये रखनेके लिए है। यदि वीणाके तारोमे तारतम्य न हो तो उसमे जीवनका सङ्गीत कैसे सुना जा सकता है !

अपने पारिवारिक सम्बन्धोंमें भी हमें एक प्रकारकी क्रम-बद्धता दीख पडती है। माता, पिता, भाई, भगिनी, पत्नी, इन गार्हस्थिक सम्बन्धोमे भावोंकी विविधता होते हुए भी सबमे हार्दिक एकता है। इसी हार्दिक एकताका सार्वजनिक रूप समाज है।

आज तो हम देखते हैं कि ससारमे कहीं भी समाजका अस्तित्व नही रह गया है। परिवारोकी तरह ही वर्त्तमान युगकी राजनीति और समाज-नीति छिन्न-भिन्न हैं।

रामराज्यमे सामाजिक सन्तुलनके सूत्रधार ब्राह्मण थे। समाजमें जबसे वैश्योकी प्रधानता हो गयी तभीसे उसका संगठन टूट गया, प्रत्येक मनुष्यकी मनोवृत्ति व्यापारिक हो गयी। स्नेहका स्थान स्वार्थने ले लिया, घरका स्थान बाजारने।

श्रमः धर्म्म

आज तो प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने अधिकारोकी खींचतान कर रहा है। रामराज्यमे अधिकारोकी नहीं, कर्त्तव्यकी होड़ थी। कर्त्तव्यमें भाव था, चाव था, इसीलिए—

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा।
सो तेहि काज प्रथम जनु कीन्हा॥

वह 'योग कर्मसु कौशलम्' का युग था। कर्त्तव्यको सुसम्पन्न कर लेनेमे कर्म-कुशलताका जो आनन्द निहित है, वही सर्वोपरि पारितोषिक था। इस आत्मपरितोषके लिए कर्त्तव्य हृदयसे अङ्गीकृत था। हृदयसे अङ्गीकृत कर्म्म ही धर्म्म है।

वर्त्तमान वैश्य-युगमें धर्म्मका स्थान धनने ले लिया है। यदि कर्म्म हृदयसे अङ्गीकृत नही, केवल अर्थकृत है तो ऐसे युगमें सोनेकी लंका भले ही वन जाय, रामराज्यका निर्माण नही हो सकता।

गोस्वामीजीने अर्थ-प्रधान युगके अकृत्योको ही देखकर कहलाया है—

राज नीतिविनु, धन विनुधर्म्मा।
हरिहि समर्पे विनु सतकर्म्मा॥
विद्या विनु विवेक उपजाये।
श्रमफल पढे किये अरु पाये॥

साराश यह कि सम्प्रति सभी वर्णो और वर्गोका अन्त शून्य कर्म्म केवल निर्जीव श्रममात्र है, उसमे जीवनकी सजीव साधना नही।

प्रतिस्पर्द्धा

तुलसीदासजीने वर्त्तमान सामाजिक प्रतिस्पर्द्धाको इन शब्दोमें व्यक्त किया है—

वादहि शूद्र द्विजन सन,
हम तुम्हतें कछु घाटि।
जानहि ब्रह्म सो विप्रवर,
आँखि दिखावहि डाँटि॥

गोस्वामीजीने ब्राह्मणोका पक्ष नही लिया है, उनका भी पतन दिखलाया है। कहते है—

विप्र निरच्छर लोलुप कामी।
निराचार सठ वृषली स्वामी॥

१५१०

कलियुगमे सभी वर्ण क्षुद्र हो गये है, अतएव निरर्थक प्रतिस्पर्द्धाको प्रश्रय न देनेके लिए वे वर्ण-व्यवस्थाका सम्मान करते हैं। कहते हैं–

पूजिय विप्र सील-गुन-हीना।
सूद्र न गुनगम ज्ञानप्रवीना ॥

गोस्वामीजी सामाजिक प्रतिस्पर्द्धाको स्वस्थ दिशामे मोड देना चाहते थे। उनकी धारणा थी कि यदि रूढियोमे समाजकी मर्य्यादित रेखाएँ बनी रही तो समय पाकर उनमे अनुकूल रग भरा जा सकता है।

नारीका व्यक्तित्व

तुलसीदासजीपर नारियोकी निन्दाका लाञ्छन लगाया जाता है। उनकी ये उक्तियाँ आपत्तिजनक समझी जाती हैं —

ढोल, गँवार, सूद्र, पसु नारी।
ये सब ताडन के 'अधिकारी ॥
नारि स्वभाव सत्य सब कहही।
अवगुन आठ सदा उर रहही ॥
महावृष्टि चलि फूट कियारी।
जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहि नारी ॥

इन उक्तियोपर विचार करते समय पात्र और प्रसंगका ध्यान रखना चाहिये।

गोस्वामीजीने कही तो दुष्ट स्त्रियोके स्वभावका सकेत देने, कही जन-श्रुतिको प्रतिध्वनित करने और कही साधकोको मायासे सजग करनेके लिए प्रसगानुकूल मन्तव्य दिये हैं। ढोल, गँवार, सूद्र, पसु नारी कहकर उन्होने नारिमात्रको जड़कोटिमें नही रखा। स्त्रियोके अच्छे चरित्र भी उन्होने चित्रित किये हैं। 'ताडन' शब्द साकेतिक है, प्रताडनाके अर्थमे नही। ढोलको बजानेके लिए जैसे वाद्यकुशलता चाहिये, वैसे ही जड प्राणियोको जगानेके लिए सुदक्षता।

हिन्दू समाजमे नारी पूजनीया है। जिस घरमे नारीका सम्मान

है उस घरमे लक्ष्मीका निवास माना जाता है। फिर भला आर्य्यपरम्पराके उपासक तुलसीदास नारीका असम्मान कैसे कर सकते थे !

प्राणियोकी अन्तश्चेतनापर तुलसीदासका विश्वास है। उनके बुरे-से-बुरे चरित्र भी भीतर आस्तिक और बाहर तामसिक है, जैसे बालि और रावण। तुलसीदासकी दृष्टिमे सबका अन्तर्मुख सतोमुख है, केवल बाहर मायाका तमावरण है। जहाँ यह तमावरण नही है वहाँ राक्षसियो (बालि-पत्नी और रावण-पत्नी) के चरित्र भी उज्ज्वल हो उठे है।

रामराज्यकी आदर्श नारी स्वेच्छासेवाकी मूर्ति है। किसी दबावसे नही बल्कि वह अपने सहृदय स्वभावसे ही सेवामुखी है। सीताजीके लिए कहा है—

जद्यपि गृह सेवक-सेवकिनी।
सब प्रकार सेवा विधि लीनी॥

नारीकी इसी सेवा-मूर्त्तिकी प्रतिष्ठापनाके लिए गोस्वामीजीने कहा है—

वृद्ध, रोगबस, जड, धनहीना।
अन्ध, बधिर, क्रोधी, अतिदीना॥
ऐसेहु पति कर किये अपमाना।
नारि पाव यमपुर दुख नाना॥

इसका यह अभिप्राय नही है कि नारी अयोग्य और असमर्थ पुरुषको ही वरण करे। संकेत यह है कि किसी भी परिस्थितिमे वह अपनी शालीनता न छोडे। इस युगमे नारी-स्वतन्त्रताकी आवाज सुनायी देती है। तुलसीदासकी आदर्श नारी धार्म्मिक युगकी है, आधुनिक नारी आर्थिक युगकी। इस युगमे आर्थिक सम्बन्ध ही मनुष्यका सामाजिक सम्बन्ध है। आज घर-बाहर चारो ओर आर्थिक विषमता इतनी विकराल हो गयी है कि केवल वर्गोकी ही नही, बल्कि स्त्री-पुरुषकी भी मर्य्यादा टूट चली है। आज समाजके सभी क्षेत्रोमे परस्पर अविश्वास, अराजकता और सघर्ष है।

युग-विकृति

तुलसीदासने इस प्रतियोगिता-ग्रस्त युगको अपने समयकी विकृतियोमे ही देख लिया था। उनके समयमे भी एक ओर सामाजिक व्यवस्था और दूसरी

ओर पारिवारिक मर्य्यादा भङ्ग हो रही थी। आज वर्णाश्रमकी जो अधोगति हो गयी है उसका विद्रूपण उन्होने इन शब्दोंमे किया है—

निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी।
कलियुग सो ज्ञानी वैरागी॥
नारि मुई घर सम्पति नासी।
मूड मुडाइ होहिं सन्यासी॥
सूद्र करहिं जप, तप, व्रत नाना।
बैठि बरासन कहहिं पुराना॥

ऐसे युगमे पारिवारिक मर्य्यादाका भी कैसा अभाव हो गया है—

मानहिं मातु पिता नहिं देवा।
साधुन्ह सन्ह करवावहिं सेवा॥
जिन्हके यह आचरन भवानी।
ते जानहु निसिचर-सम प्रानी॥

इस असुर-युगकी तामसिकता अकथनीय है—

बरनि न जाइ अनीति,
घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति,
तिन्हके पापहिं कवनि मिति॥

यह हिंसक युग है। लोलुपता, लम्पटता और अपहरण इस युगकी हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं—

बाढे खल बहु चोर जुआरा।
जे लम्पट पर-धन पर-दारा॥

तुलसीदासका रामराज्य अहिंसापर आश्रित है। उनकी अहिंसामें हृदयकी स्वाभाविकता है। हृदयका सहज स्वभाव सवेदनशील है। सवेदनशीलताका ही विस्तृत रूप समाज है। जहाँ सवेदनशीलता नही, वहाँ जड़ता है, निष्प्राणता है, असामाजिकता है। असुरोके सहारमे रामने जडताका ही विनाश किया था।

रामराज्य

रामराज्यमे अहिंसा राज, समाज और व्यक्ति, इन सभीका हार्दिक धर्म्म है। जो इसके विपरीत आचरण करते हैं उन्हे तुलसीदासने मर्म्मभेदी वचनोंमे सजग किया है। प्रजाविमुख राजाको सचेत करनेके लिए कहते है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

सामाजिक सौहार्दकी ओर प्रेरित करनेके लिए स्वार्थी सखासे कहते है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥

समाजके लिए जो कुछ अशुभ या अशिव है, तुलसीदासजीने उसे महापातककी कोटिमें रख दिया है।

प्राणित्त्वकी अनुभूतिके लिए वे मनुष्यमे इस सहानुभूतिका उद्रेक करते हैं—'पर पीडन सम नहिं अधमाई।'

तुलसीका रामराज्य व्यक्ति-प्रधान नही, समाज-प्रधान है। राजा इस समाजका सुमेरु है। वह अपने प्रति निर्म्मम और समाजके प्रति उदार है। सामाजिक कल्याणके लिए वह अपने वैयक्तिक हिताहितको तिलाञ्जलि दे देता है। जहाँ ऐसा राजा हो वही तो रामराज्य है। रामने सबके कहनेसे वनवास नही छोडा, और चौदह वर्ष बाद अयोध्या लौटनेपर एक व्यक्तिके भी असन्तोषसे अपनी हृदयेश्वरीको त्याग दिया।

राम समाजवादी है। जो समाजकी आधारभूत मर्य्यादाओंको शिरोधार्य्य कर समाजमे समरस हो जाय वही तो समाजवादी है। तुलसीदासने कहा है—

'प्रभुता पाइ काहि मद नाही।'

किन्तु रामके लिए कहा है—

'प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेह।'

ऐसे प्रभुके ही राज्यमे समाजवाद सम्भव है।

रामराज्यको समाजवादी राज्य कहनेकी अपेक्षा कौटुम्बिक राज्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। जैसा कि तुलसीदासने कहा है—

मुखिया मुखु सो चाहिये,
खान-पान कहुँ एक।
पालइ-पोसइ सकल अँग,
तुलसी सहित विवेक ॥

इसी रूपमे राम अपने कौटुम्बिक राज्यके मुख्य पुरुष है। राम वही उदार-चरित पुरुष हैं जिनके लिए सम्पूर्ण विश्व ही कुटुम्ब है। इस कौटुम्बिक भावनामें समाजवादसे भी अधिक आत्मीयता हैं। समाजवादमें स्थापित स्वार्थोका ही नियन्त्रण है, किन्तु रामके कौटुम्बिक राज्यमें स्वार्थोका विसर्जन और स्नेहका समर्पण है। भरत और रामका स्नेह इसी नि स्व समर्पणका दृष्टान्त है।

रामके कौटुम्बिक राज्यमे राज, समाज और परिवार सब एक ही सस्था है। उसमे राजनीति समाज-नीति है और समाज-नीति पारिवारिक नीति है। रामके वनवासमे अयोध्याका राज-समाज परिवारकी तरह ही जुडा था।

रामको पारिवारिक सम्बन्ध ही प्रिय थे। वश-परम्परासे राजा होना उन्हे अखरता था। राज्याभिषेकके दिन वे मन ही मन सोचते है—

जनमे एक सग सब भाई।
भोजन, सयन, केलि, लरिकाई ॥
करनबेध, उपवीत, बियाहा।
सग-सग सब भयउ उछाहा ॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू।
बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

ऐसे रामको सिंहासन-च्युत होनेका भला क्या खेद हो सकता है!

पारिवारिक रूपमे रामने अपनी आत्मीयताका प्रसार वहाँतक किया जहाँतक इस अग-जगका विस्तार है, यहाँतक कि—

प्रभु तरुतर कपि डार पर,
ते किय आपु समान।

रामके लिए सभी जीव विभिन्न योनियोमे एक ही चैतन्य प्राणी हैं।

रामका वनवास अपने विश्व-कुटुम्बमे निवास है। वहाँ मुनि-दम्पतियोने

लेकर शबरी, गिद्ध, निषाद तक, सब उनके स्नेहके स्वजन हैं, सब उनके प्रेमके भाजन हैं।

जिन सामाजिक आदर्शोंसे तुलसीका रामराज्य अनुप्राणित था वे आदर्श आज भी हिन्दू समाजमें अखण्ड है। हिन्दू जातिके लिए राम राजा ही नहीं, अपितु अखिलेश्वर प्रभु हैं, अतएव रामराज्यके सामाजिक आदर्श उसके लिए दैवी विधान हैं। स्वयं राम तो सर्वशक्तिमान जगदीश्वर हैं किन्तु वे भी अपने युगके आदर्शोंसे बँधकर मर्यादा-पुरुषोत्तम हो गये हैं। मर्यादा आत्मनियमनके लिए है।

रामके अनन्य भक्त तुलसीदास रूखे-सूखे उपदेशक, वक्ता या प्रचारक नहीं हैं। वे हैं अपने सीतारामके अनुपम सौन्दर्यपर मुग्ध कवि। ऐसे रस-स्निग्ध कविके भाव-विभोर हृदयसे निःसृत होकर—

चली सुभग कविता सरिता-सी।
राम विमल जस जल भरिता-सी॥

काशी,
नवम्बर, १९४७

सूरदासकी काव्य-साधना

सूरदास उस युगके कवि है जब देशमे मशीनोका प्रवेश नही हुआ था और न औद्योगिक आडम्बरोके कारण जीवन जटिल बन गया था। आज न तो वह वृन्दावन है, न गोकुल, व्यापारिक विभीषिकाने सारे ससारका जीवन विरस कर दिया है।

सूरदास उस अनुपम भारत-भूमिके कवि है जिसके कमनीय व्यक्तित्त्व और प्राकृतिक गौरवका गुणगान बकिम और रवीन्द्रने किया। द्वितीय महा-युद्धके पूर्व, अभी कलतक, वह भारत-भूमि सुजलाम् सुफलाम् शस्यश्यामलाम् थी। इसकी सुषमापर स्वर्ग भी न्यौछावर था। इस निसर्ग-सुन्दर प्राकृतिक भूमिके अनुरूप ही यहाकी संस्कृति, कला और कविताका विकास हुआ।

सूरदास भारतके विकास-कालके धार्मिक कवि थे। धर्म्म शब्द सकुचित नही, व्यापक है, इसमे प्रकृतिकी प्रफुल्लता और मनुष्यकी मधुर चेतनाका समावेश है।

देशकी प्राकृतिक स्थितिका धर्म्मके सामाजिक रूपपर बहुत प्रभाव पडता है। यद्यपि तत्त्वत ससारके सभी धर्म्म एक है, तथापि विभिन्न देशोकी प्राकृतिक स्थितिके अनुसार धर्म्मके स्वरूपमे अन्तर है। जहाँ प्राकृतिक सुषमा है वहाँ धर्म्ममे भी रम्यता और सरसता आ गयी है, इसके विपरीत जहाँ प्रकृति रूक्ष है वहाँ धर्म्ममे शुष्कता और नीरसता है।

भारत-जैसे मनोहर प्राकृतिक देशमे जिस धर्म्मका उद्भव हुआ वह धर्म्म स्वभावत यहाँकी नैसर्गिक सुषमासे कवित्त्वपूर्ण है। कवित्त्वपूर्ण होनेके कारण यहाँका धर्म्म विरक्तिमूलक ही नही, अनुरक्ति-मूलक भी है। इसमे वार्द्धक्य ही नही, यौवन भी है।

भारतकी निर्जरा प्रकृति जीवनका, यौवनका, अनुरागका उन्मेष करती आयी है। वह मृत्युका नही, मृत्युञ्जयका सन्देश देती है। वह जीवके जीवनका उत्सव मनाती है। इसी उत्सवका उत्साह राधाकृष्णोपासक वैष्णव

कवियोंकी सरस रचनाओंमें है। सूरदास उन्हीं कवियोंकी परम्परामें हैं जिनमें जयदेव और विद्यापति अग्रगण्य हैं।

प्रकृति-पुरुष

कहते हैं, सूरदास पहिले विनयके विरक्ति-मूलक पद गाया करते थे। जब दक्षिण-विजय करके भक्तशिरोमणि वल्लभाचार्य्य उत्तर भारतमें आये तब गऊघाटपर सूरदासने उनसे भेंट की। आज्ञा पाकर सूरने उन्हें विनयके पद सुनाये। पद सुनकर आचार्य्यने कहा—'सूर होकर ऐसा क्यों घिघियाता है, कुछ भगवद्लीलाका वर्णन कर।' इस आदेशसे सूरदास रागानुगा भक्तिकी ओर उन्मुख हो गये। उनके हियेकी आँखें तो पहिले ही खुल चुकी थीं, अब उनके ज्योतिर्मण्डलमें पुरुषके साथ प्रकृतिको भी स्थान मिल गया, कृष्णके साथ राधाका स्नेह-सरस-सम्बन्ध जुड़ गया।

यद्यपि वल्लभाचार्य्यने अपनी उपासनामें राधाको स्थान नहीं दिया है तथापि सूरने अपनी काव्य-प्रेरणासे परब्रह्मके साथ उनकी अपरा प्रकृति अथवा आह्लादिनी शक्ति राधाकी भी स्थापना कर दी है। अन्यान्य गोप-गोपिया उसी परम पुरुषके सवित और सन्धिनी शक्ति हैं। वृन्दावन तो एक प्रतीक है, यह निखिल भुवन ही वृन्दावन है जहाँ परम पुरुष अपनी शक्तियोंके साथ आह्लाद, प्रेम और यौवनकी रासक्रीडा करता है। चिरन्तन सृष्टिकी तरह वृन्दावन और वहाँका जीवनोल्लास भी नित्यनूतन है। सूरदास इसी शाश्वत आनन्द-लोकका सकेत करते हैं—

नित्यधाम वृन्दावन श्याम
नित्य रूप राधा ब्रजबाम
नित्य रास, जल नित्य विहार
नित्य मान, खण्डिताभिसार
ब्रह्मरूप एई करतार
करन हरन त्रिभुवन ससार

जीवन और जगतको इस चिरमंगल रूपमें अपना लेनेमें मनुष्यको

स्मशान-वैराग्य नहीं होने पाता, उसमे अपरिमित आशाका सञ्चार हो जाता है। सूरदास प्रकृति-पुरुपके लीला-विहारके कवि है। व्रज उनका अग-जग है जहाँ 'विहरत स्याम स्यामा संग।' व्रजके राम-रंगमे प्रकृति-पुरुपका ही ऐक्य है।

प्रकृति-पुरुपकी रस-भावना ही सूरदासकी काव्य-साधना है। उन्होंने सांख्यको काव्यका स्वारस्य दे दिया है। अपने रस-सागर सूरसागरकी रचना उन्होंने ६७ वर्पकी आयुमे की थी, मानो प्रकृतिने वार्द्धक्यका कायाकल्प कर उन्हे चिरशैशव, चिरयौवनका वरदान दे दिया।

कहा जाता है, सूरदास पुष्टिमार्गी कवि है। पुष्टिका अभिप्राय भक्त-पर भगवानकी कृपादृष्टि है, उसीसे भक्तका पोषण होता है। भला जिस क्रीडा-कलापमे स्वय राधिकारमण साथ है वहाँ भगवानकी कृपादृष्टि क्यो नही होगी! कृष्णार्पण करके जीवनोल्लासको नैवेद्यके रूपमे अपना लेनेसे वह वरदान बन जाता है।

यद्यपि सूरदास एक सम्प्रदाय-विशेपके कवि है किन्तु उनका काव्य किसी 'वाद' या मतमे सीमित नही है। उसमें हृदयका वह उन्मुक्त रस है जो प्राणि-मात्रके अन्तस्तलको तरल कर देता है।

केन्द्रविन्दु : ग्रामीण जीवन

सूरदासका आलम्बन वह ललित-कलित-कला-पुरुप है जिसका जीवन ही काव्य है। इस भाव-विहारी लीलापुरुपके स्मरण मात्रसे ही कोई भी कवि बन सकता है। वह रसराज गोप, गोपी और गौओके साथ-साथ समाजके मूलकेन्द्र ग्राम्यजीवनमे हँसता-रमता और खेलता-बिछुडता है। राजनीतिक विवशताने विछुडकर भी उसका मन अपने उसी स्वाभाविक जीवनके लिए ललकता है—

ऊधो, मोहि व्रज बिसरत नाही
हंससुताकी सुन्दर कगरी अरु कुजनकी छाही
वे सुरभी, वे बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाही
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाँही

यह मथुरा कञ्चनकी नगरी मणि मुक्ताहल जाही
जबहिं सुरति आवत वा सुखकी जिय उमगत तनु नाही
अनगन भाँति करी बहुलीला जसुदानन्द निबाही
सूरदास प्रभु रह्यौ मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताही।

मथुरामे भी उनमे शैशवका ग्रामीण नटखटपन बना हुआ है, तभी तो यशोदाके नाम यह सन्देश भेजते है —

जीते रहियो जसुमति मैया
आवैगे दिन चारि-पाँचमे हम हलधर दोउ भैया
बसी बेनु सम्हारि राखियो और अबेर-सबेरो
मति लै जाय चुराय राधिका कछुक खिलौना मेरो।

सूरदासकी कविता राधाकी तरह कृष्णके साथ-साथ है, किन्तु कृष्ण जब राधाको छोड जाते है तब उनकी कविता राधाके ही साथ रह जाती है। वे सगुणोपासक कवि थे, सगुणकी आराधना प्रकृति अथवा रमणीयताके सरस सान्निध्यसे ही की जा सकती है।

भ्रमर-गीत

सूरदासका 'भ्रमर-गीत' प्रकृतिका पुरुषके प्रति सत्याग्रह या मधुर रसाग्रह है। अन्तमे उसीकी विजय होती है। ऊधो आये थे गोपियोको निर्गुणका उपदेश देने किन्तु हारकर मथुरा लौट गये। कृष्णसे उन्होने कहा —

वे उमडी वारिधि-तरग ज्यो
जाकी थाह न पाऊ
कौन-कौन को उत्तर दीजे
ताते भज्यो अगाऊ।

भाव ही जिनका स्वभाव है भला वे ज्ञानकी रूखी-सूखी बाते कैसे सुन सकती थी! गोपियोके मधुर प्रेमकी टेक कैसी अटूट है! मधुकरसे मिस वे दोटूक कहती है—

मधुकर ! हम न होहिं वे वेली
जिनको तुम तजि भजत प्रीति विनु
करत कुसुम - रस केली।

ऊधोके सामने उन्होने अपने प्रेमकी विवशताको एक टेढी समस्या वना दिया है —

उरमे माखन चोर गडे
अव कैसहु निकसत नहिं ऊधो !
तिरछे ह्वै जु अड़े।

इस सलाप-काव्यमे नाटकीय वक्रता और वचन-विदग्धताका समन्वय है ।

सूरदासने भारतीय परम्पराके अनुसार अपने समस्त काव्यको सुखान्त वना दिया है, मोहनका राधासे पुनर्मिलन करा दिया है।

राधा-माधव-मिलनमे तद्रूपता, तल्लीनता और रसमयताका वडा सरल स्वाभाविक निरूपण है—

राधा माधव भेट हुई
राधा माधव, माधव राधा
कीट भृंग-गति होइ जु गई।
माधव राधाके रग राँचै, राधा माधव रग रई
माधव-राधा-प्रीति निरन्तर रसना कहि न जई।

भाव–पूजा

सूरदास पार्थिव अध्यात्मके कवि है। देहमे देही की तरह उन्होने पृथ्वीके मृण्मय आकारमे ही रसोऽमृतमको उपलव्ध किया है। इस प्रकार वे लौकिक और अलौकिक कवि है। उनका सूरसागर पृथ्वीके आयतनमे भी है और उससे निर्लिप्त भी, जलाशयमे जलकी तरह।

लौकिक दृष्टिसे सूरदास पारिवारिक कवि है। उनके पारिवारिक जगतमे यशोदा और नन्दका वात्सल्य है, ऊधो और गोपकुमारोका सखा भाव है, राधा और गोपियोका दाम्पत्य है। इन रसो और भावोमे सूरदासका

मन चैतन्य हैं, वे चित्तकी चकईको उसी ओर प्रेरित करते हैं जहां अहर्निश संयोगका सुख है—

चकई री, चलि चरन-सरोवर
जहाँ न प्रेम-वियोग।

इस तरह सूरदासके लौकिक भाव अलौकिक पुरुषके लिए पादार्घ्य हैं।

हिन्दूधर्म्ममें जीवन पग-पगपर एक पूजन है गो-पूजन, हलबैलका पूजन, नवान्नका पूजन, नये गृह-वापीके निर्म्माणपर पूजन, नये कलशकी स्थापनाके समय पूजन। यहाँतक कि इस शरीरकी अशिवता दूर करनेके लिए षोडश संस्कार हैं। जीवनमें जो कुछ उपयोग्य और उपभोग्य है उन सबके भूत-त्वके परिहार और अमृतत्त्वके सञ्चारके लिए पूजन है।

पूजन-पूर्वक जीवन भगवत्प्रसादके रूपमें अंगीकृत हो जाता है। वैष्णव-काव्यका भाव-पूजन उसी भगवत्प्रसादके लिए है। सूरदास भागवत कवि हैं।

रस और कला

यद्यपि सूरदास शृंगार रसके भी उत्कृष्ट कवि है तथापि उनका कवित्व वात्सल्यरसमें ही बेजोड़ हैं। उनके काव्यमें सरल शैशवकी सजीव चित्रशाला है। उसमें रमकर मनुष्य फिरसे शुभ जन्म पा जाता है।

सगुण-उपासनामें सौन्दर्य ही प्रेमका आधार है। तुलसीदासजीने सीता और राम दोनोंका सौन्दर्य-वर्णन किया है, किन्तु सूरदासने मुख्यत कृष्णका ही सौन्दर्य अंकित किया, क्योंकि वात्सल्यके कारण श्रीकृष्ण ही उनके प्रभु हैं। कृष्णकी बालछवि देखिये—

छोटी छोटी गुड़ियाँ अँगुरियाँ छोटी,
छबीली नख-जोति मोती मानो कमलदलन पर।
ललित आँगन खेलै ठुमुक ठुमुक डोलै,
झुनुक झुनुक बाजै पैंजनी मृदु मुखर॥

अब इन्हीं कृष्णकी बाँकी किशोर-छवि भी देखिये—

चटकीलो पट, लपटानो कटि,
वंसीवट, यमुनाके तट नागर नट।
मुकुट लटकि अरु भृकुटि मटक देखौ,
कुण्डलकी चटक सो अटकि परी दृगनि लपट ॥

— यह है सूरदासका चित्र-कौशल जिसमे शब्दोकी सजावटसे ही स्वर और सौन्दर्य सजीव हो उठा है।

वात्सल्यके अतिरिक्त सूरदासका वियोग-शृगार भी बहुत स्वाभाविक है। उसमे उद्दीपन केवल जड़-उपकरण नही, बल्कि उक्ति, चेष्टा और संवेदनसे जीवनके सजीव अग बन गये है : चन्द्र, घन, अश्रु, फूल, पत्र लता, विटप, इत्यादि। सूरकी अतिशयोक्तियोमे भी एक स्वाभाविक मूर्त्तिमत्ता है—'लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।'

सूरदासमे स्वाभाविक उद्भावनाएँ भी है और चमत्कारपूर्ण कल्पनाएँ भी। यद्यपि काव्यके सभी अलकार उनकी रचनाओमे है तथापि उत्प्रेक्षा और साग-रूपक उनके विशेष अलंकार है। रूपकोमे प्रतीक-लाक्षणिकता भी है—

अद्भुत एक अनूपम बाग
जुगल कमलपर गज क्रीडत है तापर सिंह करत अनुराग
हरिपर सरवर सरपर गिरिवर गिरिपर फूले कन्ज पराग
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर ता अमृत फल लाग
फलपर पुहुप पुहुपपर पल्लव तापर शुक पिक मृगमद काग
खञ्जन धनुप चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मणिधर नाग।

सूरदास गीतकाव्यके प्रमुख कवि है। प्रबन्धकाव्यकी अपेक्षा गीतकाव्य कविसे आत्मसाधना चाहता है। सूरदासके गीतोमे यही आत्मसाधना है। जलमें मीन की तरह वे अपने भीतर डूबे हुए हैं। वहाँ इतना जीवन है कि उससे गीतोका सागर लहरा उठा। उनका गीतकाव्य उनके अन्त करणका द्रवण है। गीतकाव्यके लिए जिस अन्तर्मुखी एकाग्रताकी आवश्यकता है वह अन्धनयनोसे

भी सूरदासको मिल गयी थी। अन्तर्लीनताके कारण उनमें अनुभूति और संवेदनशीलता बहुत है।

सूरदास केवल साधक ही नहीं, भक्त भी है। जिनमें भाव भुक्त हो जाय वही तो भक्त है। जहाँ भाव है वहीं काव्यत्व है। अतएव, भक्त सूरदास में आत्मसाधनाके साथ काव्य-साधनाका भी संयोग हो गया है। यद्यपि उनके गीत पुराने ढंगके पद है तथापि विविध राग-रागिनियोंमें उन्होंने हृदयोद्‌गारोंको इतनी भंगिमाएँ दी है जितनी नटनागर कृष्णके त्रिभंगमें भी नहीं। उर्दूमें जिसे तर्जेअदा कहते है वह सूरदासके प्रत्येक पदकी टेकमें कितनी ही रंगतें पा गयी है।

काशी,

अप्रैल, १९४८

गाँवोंकी सांस्कृतिक रचना

मनुष्यत्वके मूलतत्त्व ग्रामो ही मे अन्तर्हित,
उपादान भावी संस्कृतिके भरे यहा है अविकृत ।
शिक्षाके सत्याभासोसे ग्राम नही है पीड़ित,
जीवनके संस्कार अविद्या-तममे जनके रक्षित ।
—('ग्राम्या')

सृष्टिकी जननी पृथ्वी है, अतएव जीवनका विकास वहीसे हो सकता है जहाँ पृथ्वी प्रशस्त है। प्रकृतिके लिए ही नही, वल्कि मानव-सन्तति और उसकी संस्कृतिके उगनेके लिए भी मुक्तभूमि चाहिये। वह मुक्तभूमि गाँवोकी धरती मे है। नगरोमे जहाँ कि एक-एक इञ्च जमीन मकानो, सड़कों, गलियो और दूकानोसे घिरी हुई है, जहाँ दिनमे भी अँधेरा वना रहता है, जहाँ खुली साँस न मिलनेके कारण कदम-कदमपर दम घुटता है, वहाँ मनुष्यकी तरह ही प्रकृति और सस्कृतिके विकासके लिए भी अवकाश नही है।

उस दिन जव नगरके मुख्य राजपथसे चला आ रहा था, तव देखा, फुटपाथका वह पेड जो अभी अपने प्रथम तारुण्यमे है, वर्षाका जल पाकर भी हरा-भरा नहीं हो सका। उसकी सूनी टहनियाँ रक्तशून्य शिराओकी तरह अपनी विकलताका इजहार दे रही थी। किशोर विटप असमय ही जरठ हो गया था। ऐसा क्यो ?

उसके अगल-वगलकी जमीन, जो कभी भुरभुरी रही होगी, निरन्तरके आवागमन और व्यापारिक पैठके कारण रूखी, कड़ी और ककरीली हो गयी थी, कठोरताको भेदकर जैसे कोमलता अतलतक नही पहुँच पाती वैसे ही जलकी तरलता पेड़की जड़तक नही जा सकी। तिसपर पेड़के तनेसे सटाकर छोटा-सा गोलाकार पक्का चवूतरा वना दिया गया था—एक तो सूखा शरीर उसपर मानो लोहेका कवच ! वेचारा पेड़ कहीसे भी रस न पाकर निर्जीव हो गया !

इसी तरह नगरोमें भी जीवनका विकास अवरुद्ध हो गया है। यहाँ स्कूलों, कालेजो और यूनिवर्सिटियोकी शिक्षाका प्रकाश है, लक्ष्मीका निवास है, फिर भी जीवन अनुर्वर और नागरिकता जड़ताका जञ्जाल मात्र है। यहाँ शरीर फूलोकी शय्या चाहता है और हृदयको लोहे-कंकड़-पत्थरपर पनपानेका प्रयत्न किया जाता है।

जिन कृत्रिम साधनोके प्राचुर्य्यसे नगरोका सास्कृतिक विकास रुक गया है उन्ही साधनोके स्वाभाविक रूपमें न मिलनेके कारण ग्रामोका जीवन भी अविकसित रह गया है। फिर भी गाँवोमें जो कुछ है वह अपने प्रकृत रूपमें है, समुचित साधनोसे उसका परिष्कार हो सकता है, लेकिन विकृत नागरिकता गाँवोका आदर्श नही बन सकती।

अंग्रेजी शासनने गाँवोको अन्धकारमें छोड़ दिया। शुभेच्छासे प्रेरित न होते हुए भी कभी-कभी अकल्याण भी कल्याण बन जाता है गाँवोकी अशिक्षा और दरिद्रताने ग्रामीणोको विद्या और वैभवके प्रमादसे बचाये रखा। आज जब कि नगर पथभ्रष्ट है, गाँव पथभ्रष्ट नही, पथ-हीन है।

इधर काग्रेसी सरकारोका ध्यान गाँवोकी उन्नतिकी ओर गया है। भारतका अर्थ ही है ग्रामीण भारत, सात लाख गाँवोका भारत। भारतीय राजनीति जब कि डाल-पातपर दौड़ रही थी और 'तुम डाल-डाल मैं पात-पात' का खेल खेल रही थी, तब गान्धीजी देशके मूल-आधार गाँवोकी ओर उन्मुख हो गये। विदेशी शासन इस बुनियादी दृष्टिसे विचलित हो गया, क्योंकि शक्तिका उद्गमस्थल जननायकने देख लिया था। जो लोग विदेशी शासकोंकी उँगलियोंपर नाच रहे थे वे या तो प्रतिक्रियावादी हो गये या गान्धीके अवसरवादी अनुयायी।

गान्धीजीने गाँवोकी स्वाभाविकता बनाये रखनेके लिए कहा था कि गाँवोमें कपास लोढ़ने, आटा पीसने, चावल कूटने तेल पेरनेके लिए मशीनें नहीं होनी चाहिये और न यातायातके लिए मोटरें, लारियाँ इत्यादि। उनका अभिप्राय यह था कि गाँवोको आधुनिक व्यापारिक आडम्बरोंसे दूर रखना चाहिये।

नैसर्गिक विशेषता

आवश्यकता इस वातकी है कि गाँवोमे जो नागरिक बुराइयाँ आ गयी है उन्हे दूर करके वहाँके प्राकृतिक जीवनका विकास किया जाय।

गाँवोंकी सबसे बड़ी विशेषता प्रकृतिके सम्पर्कमे उनका निसर्ग-सुन्दर सरल-जीवन है। वहाँकी प्राकृतिक सुषमामे मनुष्यका उद्गम समरस हो गया है। कविके शब्दोमे उस निसर्ग-लोककी शोभा-श्री देखिये—

वगियाके छोटे पेड़ोपर
सुन्दर लगते छोटे छाजन,
सुन्दर, गेहूकी वालोपर
मोतीके दानो-से हिमकन।
प्रात. ओझल हो जाता जग,
भूपर आता ज्यो उतर गगन,
सुन्दर लगते फिर कुहरेसे
उठते-से खेत, वाग, गृह, वन।
—('ग्राम्या')

वहाँकी निसर्ग-कन्या, राधाकी तरह, प्रकृतिके उपहारोसे ही सजती और उसीके सुरमे गाती है—

कानोमे गुडहल
खोस, — धवल
या कुई, कनेर, लोध, पाटल;
वह हरसिंगारसे कच सँवार
मृदु मौलसिरीके गूँथ हार,
गउओ सँग करती वन-विहार,
पिक चातकके सँग दे पुकार,—

वह कुन्द, काँसने,
अमलतास ने
आम्रमौर, सहजन, पलाशने
निर्जनमे सज ऋतु सिंगार।
--('ग्राम्या')

हमे गाँवोकी यही नैसर्गिक विशेषता बनाये रखनी है।

स्वाभाविक साधन

गाँवोको बिजली, रेडियो और फिल्म नही चाहिये।

बिजलीका स्थान हम बडी-बडी परइयोमे रेडी और सरसोके तेलसे उद्दीप्त गृहदीपकोको दे सकते है। इससे आँखोको शीतलता और सुदृष्टि मिलेगी, उद्यम (कृषि) की स्वाभाविकता भी बनी रहेगी। गृहदीपकोसे ही पुनकालका सांस्कृतिक प्रकाश जगमगा उठेगा।

रेडियोका स्थान हम ग्रामगोष्ठियोको दे सकते है जिनमे नगरसे गये हुए कार्यकर्ता स्वयसेवककी तरह सम्मिलित हो सकते है शहरोकी सनसनी फैलानेके लिए नही, बल्कि घरेलू कुशल-वार्त्ताके रूपमे विचार-विमर्श करनेके लिए।

गान्धीजी तो नगरोके लिए भी रेडियोकी आवश्यकता नही समझते थे। सम्प्रति नगर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिके रक्षा-प्राचीर है अतएव वहा तात्कालिक लाभके लिए भले ही रेडियो रखे जायँ लेकिन देशके अन्त पुरो (गावो) को उनसे अछूता रहने दिया जाय। रेडियोसे मनुष्यकी सामाजिक सजीवता अथवा साक्षात् मधुरताका हरण हो जाता है। जब रेडियो नही था तब भी कण्ठ-कण्ठमे प्रत्येक कलाकारकी कला सजीव हो जाती थी।

फिल्मचित्रोका स्थान हम लोककलाओको दे सकते है। लोककलाओ द्वारा हम रामलीला और कृष्णलीलाकी तरह अन्यान्य रूपक भी प्रस्तुत कर सकते है।

इस पुनर्निर्म्माणके युगमे सारे देशकी आवश्यकताएँ एक-सी है—आर्थिक, बौद्धिक, धार्मिक, इन्हे हम कह सकते है—उद्योग, शिक्षा, संस्कृति। यदि इतने वर्षोकी कृत्रिमतासे भारतको फिर स्वाभाविक रूपमे लाना है तो उसकी रचना गाँवोके अनुरूप होनी चाहिये।

संगीत-मधुर श्रम

नागरिक शोषणके कारण गाँव इस समय आवश्यकतासे ग्रस्त है। लेकिन गाँव केवल आवश्यकताओके दास नही, उनके जीवनमे ललितप्राणता भी है। यो कहे कि वे साधनोको सरस बनाकर जीवनको सजीव करते है। कठोर उद्योगोमे भी उनका भावयोग रहता है। चाहे खेत हो, चक्की हो, पन-घट हो, उनके श्रममे सगीत (जीवनकी रसात्मक तन्मयता) है। श्रम-सीकरोसे सिञ्चित संगीत ही उनका लोकगीत है। जिन औद्योगिक साधनोसे गाँवोकी श्रम-संगति (सगीत) टूट जाती हो वे वहाँके लिए अवाञ्छनीय है। ग्रामवासियोका सगीत केवल उनके कण्ठमे नही, कार्यो और साधनोमे भी है, इन्हीके भीतरसे उनका कण्ठ सगीत पाता है। उनका सगीत गाय-बैलकी घटियो और कटनीके रुनझुन नूपुरोमे है। किसानका समय और श्रम बचानेके लिए गाँवोमे यदि मशीने स्थापित कर दी जायँ तो वह उनकी कर्कशताका अभ्यास करेगा या जीवनकी स्वाभाविक मधुरताका? किसान यान्त्रिक मजदूर नही, वह तो समाजका सहृदय सजीव साधक है।

हमे किसानोका श्रम नही बचाना है, बल्कि श्रम-सीकरको मुक्तकर बना देना है। यह ग्रामोद्योगोसे ही सम्भव है। उद्योगके अनुरूप ही संस्कृति और कलाका भी विकास होगा।

किसानो के लिए श्रम भार नही, बल्कि जीवन ही दरिद्रता और अशिक्षाके कारण भू-भार हो गया है। दरिद्रता दूर करनेके लिए जैसे स्वाभाविक उद्योगकी आवश्यकता है, अशिक्षा दूर करनेके लिए वैसे ही स्वाभाविक ज्ञानयोग की।

शिक्षा

किसान तो अपने व्यावहारिक ज्ञानसे ही शिक्षा प्राप्त करता रहता है, उसका व्यावहारिक ज्ञान किसी वैज्ञानिक या आध्यात्मिक पुरुषसे कम नहीं होता। खेतीकी कहावते, लोकोक्तियाँ, धार्म्मिक सूक्तियाँ और घरेलू चिकित्साएँ उसकी सूझ-बूझके प्रमाण है।

शिक्षाकी आवश्यकता अनुभव, व्युत्पन्नमतित्व और सामाजिक सौहार्दके लिए है। इसके बिना शिक्षा सरलको भी जटिल बना देगी।

नगरोमे शिक्षाका जो मानदण्ड है उसमे तो शिक्षित और अशिक्षितमे कोई अन्तर नही जान पडता दोनो ही अपने रहन-सहन-जीवनमे एक-से ही असंस्कृत, अविकसित और असामाजिक है, केवल बाहरी लिबासमे फर्क है।

पूँजीवादी वातावरणमे शिक्षा भी एक व्यवसाय बन गयी है। यदि हमें शिक्षाके शुद्ध लक्ष्य (मनोविकास,की ओर बढना है तो उसे अर्थोपाजन से ऊपर उठाना चाहिये। अर्थोपार्जनके लिए उद्योग और सामाजिक विकासके लिए शिक्षा होनी चाहिये। यदि सभी कर्म्मियोको जीनेके समान साधन प्राप्त हो जायँ तो कोई अर्थोपार्जनके लिए ही शिक्षा-लाभ नही करेगा सुषम आर्थिक व्यवस्था मे शिक्षा सबको अपने महत् लक्ष्यकी ओर ले जायगी।

गाँवोमे शिक्षाके आर्थिक रूपकी आवश्यकता तो अब भी नहीं है, क्योंकि आर्थिक समस्याके लिए ग्रामोद्योग हैं। गाँवोमे शिक्षाका प्रारम्भ मौलिक रूप (समाज-शिक्षण)मे किया जा सकता है। यह मूलभूत शिक्षा साक्षरतामे अकुरित होकर सास्कृतिक चेतनामे पल्लवित-पुष्पित हो सकती है।

कहा है—'सबमे भले विमूढ जन जिन्हे न व्यापै जगत-मति। इस युगमे हम 'जगत-मति' की उपेक्षा नहीं कर सकते क्योकि वह तो गाँव-नगर-वन-उपवन आबाल-वृद्ध-वनिता सबमे व्याप्त हो गयी है, हाँ, शिक्षा-द्वारा हम 'जगत-मति' को दुर्मति या दुर्विनीत होनेसे बचा सकते हैं। मतिको सुमति (या 'सन्मति') बनानेके लिए गाँवोमें ही नहीं, नगरोमे भी सुशिक्षाकी आवश्यकता है।

सम्प्रति गाँव आर्थिक दैन्यसे तो दुखी है ही, सदियोसे सामन्तशाही और पू जीशाहीने अपना प्रभुत्व बनाये रखनेके लिए उनमे शिक्षाका प्रकाश भी नही फैलने दिया। गाँवोमे सास्कृतिक आस्था तो है, लेकिन वह अज्ञानमे आच्छादित है। दीनता और अज्ञानताने ग्रामवासियोका जीवन कैसा जड बना दिया है—

तृण-तरुओ-से उग-बढ, झर-गिर
ये ढोते जीवन-क्रमके क्षण।
... ...
जग जीवन धारामे बहते
ये मूक पगु बालूके कण।
... ...
किस मोहमन्त्रसे रे कीलित
ये दैवदग्ध जगके पीड़ित।
... ...
ये मानव नही, जीव शापित,
चेतना-विहीन, आत्मविस्मृत।
—('ग्राम्या')

कविने जीवन्मृत ग्रामवासियोके लिए जो कुछ कहा है वही नागरिकोके लिए भी कहा जा सकता है। जीवनका कोई सुसगत निर्माण अथवा चैतन्य प्राणियोका सजीव समाज न होनेके कारण जीवन सर्वत्र दूभर हो गया है—कही चिन्ताके भारसे, कही अवकाशके अपव्ययसे। लोग दीर्घायुकी कामना करते है लेकिन मिली हुई आयुका भी कोई जीवन्त उपयोग नही कर पाते।

संस्कृति और कला

जहाँतक सास्कृतिक चेतनाका सम्बन्ध है, कलाकारोके सहयोगसे ही जनता धर्म्मका मर्म्म पा सकती है। जैसे धनका सदुपयोग कृपक ही कर सकता है वैसे ही धर्म्मका सदुपयोग कलाकार। 'पथचिह्न' मे लेखकने कहा है, 'सस्कृति और कला का ही अभिन्न नाम धर्म्म है।' सस्कृति है धर्म्मकी आत्मा, कला है उसका सगुण-रूप। कलाकार धर्म्मको मनोज्ञ बनानेके लिए कला-द्वारा सस्कृतिमे भाव-

सौन्दर्य्यकी स्थापना करता है। जहाँ कलाका भाव-योग नही है वहाँ धर्म्ममे साम्प्रदायिक शुष्कता आ जाती है।

'पथचिह्न'के शब्दोमे, "कोई भी धर्म्म, उपदेशको, भजनीको, मिशनरियो और प्रचारको-द्वारा अन्तःकरणसे अगीकृत नही हो सकता। धर्म्मको जब कवियो और कलाकारोका सहयोग मिलता है तभी वह जन-मनमे उसी तरह बस जाता है जैसे सलिल, सौरभ, सौन्दर्य। वैष्णव धर्म आज भी इतना मनोज्ञ इसलिए है कि उसमे सूर, तुलसी, मीराका भाव-योग है।

आज धर्म्म जिस रूपमे मन्दिरो, मसजिदो और गिरजाघरोमे प्रचलित है उस रूपमे वह एक दैवी शासक मात्र रह गया है, जन-मनसे नि सृत उसीके आत्मानन्दका रसोऽमृत नही। . आज कला-बोधके अभावमें जनता धर्म्मकी धारणा-शक्ति खो बैठी है।"

गाँवोमे ही नही, नगरोमे भी कला-द्वारा धर्म्मकी धारणा-शक्ति जगानेकी आवश्यकता है। गाँवोमे विशेष रूपसे इसलिए कि अशिक्षाके कारण अन्धविश्वासोके गढ गाँव ही हैं। जबतक इन अनगढ गढोको सुघड नही बनाया जायगा तबतक साम्प्रदायिक नेताओका नेतृत्व फलता-फूलता रहेगा।

गाँवोमे कलाकारोको सुधारक बनकर नही, बल्कि उद्भावक होकर प्रवेश करना है। वहाँ परलोकके भयसे धर्म्मभीरु जनताको सस्कृतिका सगुण-आलोक देकर उसे धर्म्मप्राण बनाना है। उसकी आस्थाओपर बिना आघात किये ही उसका सखा बनकर धर्म्मके लाक्षणिक तत्त्व (भाव-सत्य) का मर्म्मोद्घाटन करना है।

जैसे आर्थिक दृष्टिसे गाँवोको स्वावलम्बी बनाना है वैसे ही सामाजिक दृष्टि (शिक्षा और सस्कृतिकी दृष्टि)-से भी। आर्थिक स्वावलम्बनमे ही गाँव सामाजिक सहृदयता पा सकेगे। बिना आर्थिक स्वावलम्बनके सभी आयास-प्रयास ऊसरमे बीज बोने-जैसा हो जायगा। आर्थिक दृष्टि से यदि हम ग्रामोद्योगोकी उपयोगिता स्वीकार कर सके तो गाँवोके राजनीतिक और सामाजिक निर्म्माणके लिए भी हमे उनकी प्राचीन विशेषताओको अपनाना होगा।

काशी,

२०।१०।४८

सन्' ४२ के बादकी भूल

सन्' ४२ के अगस्तमे कांग्रेसने वम्वईके समुद्रतटपर 'भारत छोडो' का उद्घोष किया। गान्धीजीने अन्तिम आहुति देनेके लिए राष्ट्रको 'करो या मरो' का मन्त्र दिया। दूसरे दिन कांग्रेसके वड़े-वडे नेता और कार्य्य-समितिके सदस्य पकडकर नजरवन्द कर दिये गये।

जिन लोगोने सन् '४० के व्यक्तिगत सत्याग्रहमे भाग नहीं लिया था, वे जेलोमे वाहर रह गये। (आज वे राष्ट्रीय सरकारके सर्वोच्च पदोपर है।) उस समय वे लोग वृटिश सरकारसे शासन-सम्वन्धी सलाह-मशविरामे लगे हुए थे, शायद सन्' ४७ की अगस्त-स्वतन्त्रताके नाटकीय दृश्यपटकी भूमिका तैयार कर रहे थे! उन लोगोका गान्धीजीके कार्य्यक्रमपर विश्वास नहीं रह गया था, पहिले भी कभी था, यह कहना कठिन है। सन् '२० के असहयोग-आन्दोलनके शिथिल हो जानेपर वे स्वराज्य-पार्टीके वैधानिक कार्य्यक्रममे लग गये थे। तवसे वे वरावर वृटिश शासनकी उस मशीनरी पर कब्जा जमानेके लिए आन्दोलन करते रहे जिसका वहिष्कार गान्धीजीने असहयोग-आन्दोलन द्वारा किया था। गान्धीजीके नेतृत्व-कालमे ही कांग्रेसमे परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी दो दल वन गये थे। आज तो दोनों ही दल शासनारूढ है।

परिवर्तनवादियोमेसे सम्प्रति एक अंग (समाजवादी पार्टी) शासनसे अलग है। कव तक?

सन्' ४२ मे जो लोग फरार रह सके वे नजरवन्दीसे वच गये। कुछ लोगोने स्वेच्छासे आत्मसमर्पण कर दिया। कुछ लोग फरार होकर भी पकड़ गये। ये वे ही लोग है जो आज नये परिवर्तनवादी दलके रूपमे शासनसे अलग है।

कुछ लोग नजरवन्दीकी अवधिमे ही छोड दिये गये, शायद वृटिश सरकारने उनकी देशभक्ति (!) की थाह पा ली थी।

सन् '४२ में जो तोड-फोड हुई उसे वृटिश-शासनने भी वैसे ही प्रोत्साहन दिया जैसे वह साम्प्रदायिक दंगोको प्रोत्साहन देती रही है। एक ओर तो वह दमन करती थी दूसरी ओर तोड़-फोड़का अवसर इसलिए देती थी कि संसारके सामने अपनी नृशंसताको वैध-रूपमें उपस्थित कर सके। गान्धीजीने अपनी नजरबन्दीमें तत्कालीन वायसरायको पत्र लिखकर हिंसाका उत्तरदायित्व सरकार-पर रखा था। जो लोग गान्धीजीके अहिंसक अनुयायी थे उनसे सरकारको भय नही था, लेकिन अराजकताका आडम्बर फैलाकर जालमे मछलीकी तरह उन लोगोको पकड़ लेना चाहती थी जिनसे युद्धकालीन शोषणमे बाधा पडनेकी आशंका थी।

युद्ध समाप्त हो जानेपर वृटिश सरकारने नजरबन्दोको छोड़ दिया। बाहर आकर नेताओने देशकी वीरान हालत देखी। पिंजडेसे छूटे शेरकी तरह कुछ नेता वृटिश दमन और चोरव्यापारियोके विरुद्ध दहाड़ने लगे।

अगस्त-आन्दोलनका नेतृत्व

नेताओके बाहर आनेपर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सन् '४२ की अगस्त-क्रान्तिका श्रेय किसे दिया जाय ? गान्धीजीकी अहिंसाके कारण कोई यह श्रेय लेनेको तैय्यार नही हो रहा था तब शायद समाजवादी दलके नेताओने आगे बढकर उस लावारिस आन्दोलनको अपना वारिस बना लिया! इसके बाद यह भी सुनाई पडने लगा कि नजरबन्दीके पूर्व गान्धीजी उस आन्दोलनका कार्य्यक्रम बना गये थे। कांग्रेसके एक जोशीले नेताने यहाँतक कहा कि अगस्त-क्रान्ति यदि दण्डनीय है तो सारे अपराधियोका अपराध अपने मस्तकपर लेनेको तैय्यार हूँ।

आज अगस्त-क्रान्ति एक पहेली जान पडती है। लेकिन वह पहेली नही, सीधी-सादी बात है। नेताओकी नजरबन्दीके कारण जब जनता किकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गयी तब उसीकी श्रेणीके साधारण लोग उसकी रहनुमाईके लिए आगे आ गये। इस आन्दोलनमे उन्ही लोगोने असाधारण कार्य्य कर दिखाया जिनका देशके नेतृत्वमें शीर्षस्थान नही था। बलिया और सताराके शिरमौर वे ही लोग थे जो शिक्षित कम और कर्म्मठ अधिक थे। भारतपर सुभाषचन्द्रके आशिक अभियानसे उन्हे आत्मबल मिला था।

युद्धके बाद

युद्धकालमे सारा देश श्मशान-जैसा हो गया था। सूर्य्यास्त होते ही ब्लैक-आउटसे चारो ओर सन्नाटा छा जाता था। अन्धकारमे निशाचरोकी तरह सिविक गार्ड प्रेत-जैसे जान पड़ते थे। जनताके जानोमालके साथ वे मनमाना खिलवाड़ करते थे।

घनघोर बदलीमे जैसे सूर्य्य चिरदिनके लिए दुर्लभ जान पड़ने लगता है वैसे ही नजरबन्दीमे हमारे नेता भी। विश्वास ही नही होता था कि वे कभी फिर छूटेगे, देशके कोने-कोनेमे फिर तिरंगे झंडे लहरायेगे!

आखिर युद्ध समाप्त हुआ और नेता लोग जेलोसे छोडे गये। नेता लोग तो फिर मिल गये, लेकिन राष्ट्रमाताको हम नही पा सके!

नेताओके बाहर आनेपर बृटिश सरकारने अपना नया रुख दिखाया। 'भारत छोडो' की जो आवाज कभी गुनाह थी, वही गुनाह खुद सरकार करनेको तैय्यार हो गयी!

देखते-देखते देशको दो टुकड़ोमे बाँटकर बृटिश शासनने अपना सिहासन यहाँसे उठा लिया। वह अपने पीछे अकाल, भुखमरी, भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिक दगोसे क्षत-विक्षत भारतका आर्त्तचित्र छोड गया। यही सन् '४७ के पन्द्रह अगस्तका ऐतिहासिक उपहार है! इसे ही हम स्वराज्य कहते है।

जो बृटिश सरकार अपने दमनमे दुर्द्दण्ड थी वह स्वराज्यका यह तोहफा देनेके लिए दरियादिल कैसे हो गयी?

कुछ लोग कहते है कि बृटिश सरकार अगस्त-आन्दोलनसे प्रभावित होकर अथवा कांग्रेसकी लोकशक्ति देखकर दग हो गयी थी। यदि स्वराज्य देनेका कारण यही होता तो सरकार नेताओको इतने वर्षोतक नजरबन्द नही रखती। कमसे कम गान्धीजीसे तो वायसराय बातचीत करनेके लिए राजी हो जाता। नजरबन्दीके पहिले गान्धीजीके चाहनेपर भी उसने मिलना अस्वीकार कर दिया था।

कहा जा सकता है कि युद्धकालमे बृटेनका अनुदार-दल शासनारूढ था, युद्धोपरान्त जब शासन-सूत्र मजदूर-दलके हाथमे आ गया तब उसने अपनी उदारतासे भारतको स्वतन्त्र कर दिया। कैसी है यह स्वतन्त्रता या बृटेनकी उदारता जिसने अखण्ड भारतको खण्डित कर दिया और हमारे कलके जननायको (आजके शासको)-को बौद्धिक दृष्टिमे परावलम्बी बना दिया!

अग्रेजोके हटते ही पश्चिमीय राजनीतिकी सारी व्याधियाँ इस देशके जननायकोके पीछे लग गयी। उनकी सार्वजनिक स्वतन्त्रता-निर्द्वन्द्वता नष्ट हो गयी। जो दिन-रात जनताके बीचमे रहते थे, वे उससे दूर पड गये! गान्धीजी-की हत्या, शासनारूढ नेताओको धमकी, बिना कोई रचनात्मक कार्य्य किये ही सत्ताके लिए तरह-तरहकी पार्टीबन्दी, ये सब पश्चिमीय राजनीतिकी व्याधियाँ है। भारतको कगाली पहिले ही मिल चुकी थी, अब, जिन व्याधियोसे वह बचा हुआ था, वे भी मिल गयी।

अग्रेजोने भारतको इसके कल्याणके लिए नही, बल्कि अपने स्वार्थके लिए छोडा। दूसरे महायुद्धमे विजयी होकर भी उनकी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति क्षीण हो गयी है। आगे तीसरे महायुद्धकी विभीषिका उनके सामने है। इतने दिनोतक युद्धोका सामना वे भारतके रक्त-शोषणसे करते रहे है। यदि इस देशमे वे अब भी शोषक शासक बने रहते तो यह दीन-दरिद्र रक्तशून्य भारत उनका साथ नही दे पाता। जोर-जबरदस्ती करनेपर सन् '४२ से भी अधिक प्रचण्ड विद्रोह उठ खड़ा होता। उस हालतमे वे एक ओर अपनी विरोधिनी अन्तर्राष्ट्रीय शक्तिसे घिर जाते, दूसरी ओर भारतमे सन् '५७ जैसे गदरसे। उन्होने समझ लिया कि अब भारतका सहयोग उसका मित्र बनकर ही पाया जा सकता है, शासक बनकर नही। दूरदर्शितापूर्वक अग्रेजोने भारतका पिण्ड छोड दिया। क्या सचमुच ?

दूसरे महायुद्धके समय पराधीन भारतने बृटेनसे पूछा था कि युद्धका उद्देश्य क्या है? इसका उत्तर नही दिया गया, लेकिन 'एटलान्टिक चार्टर' से वह स्पष्ट हो गया। इच्छा न होते हुए भी भारतको जबरदस्ती युद्धकी आगमे डाल

दिया गया था। चर्चिलके वादका वृटेन यह जानता था कि आगे जवरदस्ती नहीं चल सकती। उसने सोचा, उसका युद्ध-भार तभी हलका हो सकता है जब आगामी सम्भाव्य युद्धको भारत भी अपना युद्ध समझे। इसीलिए उसने भारतको स्वतन्त्र कर देनेका अभिनय किया। कहीं भारत तटस्थ न हो जाय, इस आशंका मे उसने पाकिस्तानका हौवा खडा कर दिया। उस हौवाके भीतर वह खुद छिपा वैठा है, उस शिकारीकी तरह जो अपने शिकारकी गति-विधि देखनेके लिए ओझल रहता है। पाकिस्तान : भारतके प्रति वृटेनका अविश्वास है।

पाकिस्तान वनानेमें यदि वृटेनकी या जिन्नाकी सदभावना थी तो उस सद्भावनाका परिचय अखण्ड रहकर भी दिया जा सकता था।

अंग्रेज राजनीतिज्ञोंकी सदासे यह खूवी है कि जिससे वे अपना स्वार्थ साधना चाहते हैं उसकी प्रशंसाका पुल वाँध देते हैं। पहिले उन्होंने गान्धीजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, उन्हें ससारका सर्वश्रेष्ठ पुरुष घोषित किया। आतंकवादियोंसे अंग्रेजी शासनकी रक्षा करनेके लिए अहिंसावतार गान्धीजीकी प्रशंसा करनेमें ही उनका कल्याण था, चाहे स्वयं अहिंसामें कोसों दूर हों! अहिंसाका देवता उन्हींकी साम्प्रदायिक नीतिका शिकार हो गया!

अव वे हमारे अन्य गण्यमान्य नेताओंकी प्रशंसा करते नहीं अघाते। गान्धीजी तो प्रशंसाओंमें डगमगाये नहीं, लन्दनकी गोलमेज-कान्फ्रेन्समें भी उन्होंने अपनी टेक वनाये रखी। देखना है, अन्य प्रशंसनीय नेता वृटिश-सम्मोहनका सामना कहाँतक कर पाते हैं!

विपर्य्यय

राजनीतिज्ञोंमें भी रचनाकी वही कुशलता अपेक्षित है जो कथानक रचनेवाले कलाकारमें। थोड़े-से हेर-फेरसे घटना-क्रम न जाने क्या-से-क्या हो जाता है, प्राय: 'लिखत सुधाकर लिख गा राहू' हो जाता है। कलाकारोंकी त्रुटियोंको तो अस्वाभाविक कहकर साहित्यिक परिमार्जन किया जा सकता है लेकिन राजनीतिज्ञोंकी भूलोंका मूल्य जनताको जीवन देकर चुकाना पड़ता है।

सन् '४२ की नजरबन्दीसे छूटनेके बाद काग्रेसके नेताओने अपनी सार्वजनिक प्रतिभाका परिचय नही दिया। देशकी युद्धजन्य परिस्थितियोके भीतरसे रचनात्मक क्षेत्र अपनानेके बजाय वे विदेशी शासकोके मकड-जालमें उलझ गये। नजरबन्दीसे छूटनेके बाद जब हमारे नेता देशकी दुर्दशासे क्षुब्ध और असन्तुष्ट थे तब बृटिश सरकारने उन्हे कुर्सियोपर बैठाकर रूठे बच्चोकी तरह मना लिया। जिन समस्याओका सामना खुद सरकारको करना पडता उन्हे सक्रामक छूतकी तरह नेताओके पीछे लगा दिया। जिन लोगोने हमारे देशकी इतनी दुर्दशा कर डाली वे तो दुनियामे नेकनाम हो गये और जिन्होने जीवन-भर हमारे लिए कष्ट उठाया वे बदनाम हो रहे हैं। दूसरोकी करनी उन्हे भुगतनी पड रही है।

कहा जाता है, बृटेनने जो स्वराज्य दिया वह इतिहासमें एक रक्त-हीन क्रान्ति है। क्या साम्प्रदायिक दंगोमे रक्तपात नही हुआ? क्या बापूकी हत्यासे राष्ट्रका प्राण-हरण नही हो गया? ओह, अपने ही रक्तसे हम कैसा तामसिक फाग खेल बैठे!

सन् '४२ की नजरबन्दीसे छूटनेके बाद काग्रेसी नेताओका सत्याग्रहीसे शासक बन जाना बहुत बडी भूल है। जिस साधनाके पथसे उनका व्यक्तित्त्व वरेण्य बना था उस साधनासे सहसा स्थानान्तरित (पदारूढ) हो जानेके कारण उनके मौलिक रूपका विकास रुक गया। यो कहे, उनका विकास-क्रम वृन्त-च्युत हो गया, स्खलित हो गया!

नजरबन्दीसे छूटनेके बाद नेताओका स्थान नगरोकी राजधानीमे नही, गाँवोमे था। यदि वे थके हुए थे तो गाँवोमे उन्हे विश्राम मिलता और काम करनेका अवसर भी। वहाँ वे अनुभव करते कि हम अपने घरोमे लौट आये है और ग्रामवासियोको सन्तोष होता कि हमारे स्वजन हमे फिर मिल गये।

सदासे गाँवोपर ही राजसत्ता और नागरिकता निर्भर है। बन्दीघरसे छूटते ही यदि हमारे नेता गाँव-गाँवमे फैल जाते तो आजकी बहुत-सी विभीषिकाओकी जड़ जमने नही पाती।

गाँवोंमें जाकर हमारे नेता देशकी बुनियादी जनताकी युद्धजन्य परिस्थिति समझते और अन्न-वस्त्रकी समस्या हल करनेके लिए ग्रामोद्योगोंको पुनर्जीवन दे देते। ग्रामोद्योगोंसे खेतोंके अंकुरोंकी तरह जीवनका स्वाभाविक माध्यम लग आता; आजके भग्नप्राय अर्थशास्त्रके टूटनेके पहिले ही जनताको स्वावलम्बन मिल जाता।

अन्न-वस्त्रकी समस्याका वास्तविक रूप समझ लेने और उसे स्वयं सुलझानेके लिए तत्पर हो जानेपर जनताको साम्प्रदायिक नेताओंकी बात सुननेका अवसर नहीं मिलता। उनकी अपेक्षा वह तपे हुए राष्ट्रकर्म्मियोंको अपने निकट पाती। वे चिरपहिचाने आजकी तरह बेगाने नहीं जान पड़ते।

योगायोग

कहा जा सकता है कि यदि कांग्रेस शासन-सूत्र अपने हाथमें नहीं लेती तो वह साम्प्रदायिकोंके हाथमें चला जाता। हाँ, बृटिश सरकार तो किसी न किसी तरह साम्प्रदायिक कलह फैलानेपर तुली हुई थी ही, मरता क्या न करता! उसने पहिले भी साम्प्रदायिक कलह फैलाया और कांग्रेसी सरकार बन जानेपर भी फैलाया।

बृटिश सरकारने कह दिया था कि यदि कांग्रेस शासन-सूत्र अपने हाथमें नहीं लेगी तो वह अन्य दलों (लिबरलों और साम्प्रदायिकों)-को सौंप देगी। उस हालतमें जनताका जो असन्तोष आज कांग्रेसी शासनके प्रति है वह उन कठपुतलोंके प्रति हो जाता। हमारी सरकार मुफ्तकी बदनामीसे बच जाती।

लिबरलों और साम्प्रदायिकोंके शासनमें जो अविचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार फैलता उसे दूर करनेके लिए जनताके असन्तोषका नेतृत्व एक बार फिर कांग्रेसको करना पड़ता। यह बृटिश सरकारके बाद उसके अवशेषको सदाके लिए निःशेष कर देनेका अन्तिम प्रयत्न होता।

वस्तुतः राष्ट्रीय कार्य्यकर्त्ताओंके लिए सत्याग्रह समाप्त नहीं हो गया था। अन्य दलोंके हाथमें शासन-सूत्र चले जानेपर लाक्षणिक रूपसे बृटिश सरकारके साथ और प्रत्यक्ष रूप से साम्प्रदायिकों और लिबरलोंसे उन्हें सत्याग्रह करना पड़ता। इस तरह कांग्रेसके लिए युद्धके बादकी परिस्थितियोंमें ही सबसे बड़ा संघर्ष था,

वही उसकी इतने दिनोकी साधनाकी सिद्धिका द्वार खोल देता। उस संघर्षका परिणाम शुभ और स्थायी होता। जनता परदेके पीछेसे प्रोत्साहन पानेवाले कठपुतलोंके असली रूपको पहिचान लेती और सदाके लिए उनसे सजग हो जाती।

वातावरणके शुद्ध हो जानेपर जब काग्रेस शासन-सूत्र अपने हाथमे लेती तो उसे आजकी बहुत-सी फालतू समस्याओमे समय और शक्तिका अपव्यय नही करना पडता। उसके लिए रचनात्मक कार्य्य (ग्रामोद्योग) और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा (शक्ति-सञ्चय) ही महत्त्वपूर्ण कार्य्य रह जाता, जिसे वह गान्धीजीके आदर्शोंमे सुसम्पन्न कर सकती थी। उसका राजकाज गाँव-गाँवमे फैले हुए कांग्रेसके स्वयसेवको द्वारा ही बहुत कुछ हलका हो जाता, हमारी सरकार वैधानिक व्यवस्थापक मात्र रह जाती। उसकी वैधानिक व्यवस्थामे शासनका स्वर नही, बल्कि जनतन्त्रकी गृहमन्त्रणा सुनायी पडती। पञ्चायतोके भीतर जैसे जनताकी बात पहुँचती है वैसे ही काग्रेसी सरकारो तक लोकमत पहुँचता।

यह सम्भावना की जा सकती है कि नजरबन्दीसे छूटनेके बाद यदि काग्रेस शासनसे बाहर रहकर सत्याग्रह करती तो देशमे गृह-युद्ध छिड जाता। लेकिन गृह-युद्धके लिए बृटिश सरकार देशका शासन लिबरलो और साम्प्रदायिकोको नही दे सकती थी, उसके लिए वह स्वय पर्य्याप्त थी। अपने निष्प्रभ शिष्यो (लिबरलो और साम्प्रदायिको) के बजाय अपना पार्ट वही ठीकसे अदा कर सकती थी। वह तो अपने भावी लाभके लिए सबसे अधिक प्रभावशाली दलके हाथमे शासन-सूत्र देनेके लिए लालायित थी। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियोके कारण वह भारतसे शीघ्र पलायन करना चाहती थी। सयोगकी बात कि वह घटनाचक्रको अपने अनुकूल बना लेनेमें सफल हो गयी।

नजरबन्दीसे छूटनेके बाद यदि हमारे नेता अपनी आनपर अड जाते तो बृटिश सरकार उन्हीकी शर्त्तोपर आत्मसमर्पण कर देती। नेताओको आखिरी आन्दोलन या अन्तिम बलिदान करना पडता लेकिन वरदानमे स्वतन्त्रताका 'अकाल-कूष्माण्ड' नही मिलता, उन्हे मिलता अखण्ड और आत्मनिर्भर भारत।

काशी,
१०-११-'४८

गान्धीजीका बलिदान

कृषि और ऋषि-युगका देवदूत : पौराणिक पुरुष बापू युग-युगोका सार-तत्त्व छोडकर संसारसे चला गया। धरतीके साथ मनुष्यके जीवन और धर्म्मका स्वाभाविक सम्बन्ध जोडनेवाले सूत्रधारको उस विकृत युगने धराशायी कर दिया जो अपनी विक्षिप्ततासे स्वयं छिन्न-भिन्न हो रहा है। बापूकी हत्या एक व्यक्तिके माध्यमसे प्रकाशपर अन्धकारकी वह प्रतिक्रिया है जो युग-युगोसे सृष्टिमे चली आ रही है।

इस पृथ्वीपर जब युग-युगोका सञ्चित अन्धकार घटाटोपकी तरह छा गया था तब न जाने पूर्वजोके किस पुण्यसे बापूने प्राचीका प्रकाश पा लिया। उसने देखा, जिस स्वाभाविक उद्यम (कृषि) से पृथ्वीकी आत्मा (सीता) का आविर्भाव हुआ उसीके उद्धारसे रामराज्य स्थापित हो सकता है।

कहा जाता है, गान्धीजी साम्प्रदायिकताके बलिदान हो गये। साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता - यदि इन शब्दोमे हम न भूले तो हमे गान्धीजी की हत्याका कारण शोषण करनेवाली उस आर्थिक व्यवस्थामे मिलेगा जिसने व्यक्तिको, समूहको, सारे संसारको द्वन्द्वग्रस्त कर दिया है, स्वार्थी एवं आत्मलिप्सु बना दिया है। इसीलिए जिन देशोमे साम्प्रदायिकता नही है वहाँ भी राजनीतिक हत्याएँ होती है।

गान्धीजीका दृष्टिकोण

गान्धीजी कहते थे, 'मेरा लक्ष्य विश्वमैत्री है। मै विश्वभ्रातृत्वके लिए जीना और मरना चाहता हूँ। मेरी महत्त्वाकांक्षा भारतकी पूर्ण स्वतन्त्रतासे कहीं ऊँची है। मै भारतकी मुक्तिके द्वारा यूरोपीय शोषणके घातक पहियोमे पृथ्वीकी दुर्बल एवं पीड़ित जातियोका उद्धार करना चाहता हूँ।

उन्होंने यह भी कहा था कि, 'ऐसा एक भी सद्‌गुण नहीं है जिसका उद्देश्य केवल व्यक्तिका हित हो, या जिसे उतने से ही सन्तोष होता हो। उसी तरह ऐसा एक भी दुर्गुण नहीं है जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष असर दुर्गुणी व्यक्ति के अलावा दूसरोंपर न होता हो। इसलिए कोई व्यक्ति सद्‌गुणी है या दुर्गुणी है यह केवल उसी व्यक्तिका प्रश्न नहीं है, वल्कि वास्तवमें यह सारे समाजका, या सारे संसारका है।'—इसी दृष्टिविन्दुसे वे मुसलमानोंको भी अपनाकर उन्हें आत्मविकासके लिए प्रेरित करनेकी आशा रखते थे।

गोडसेने अपने वयानमें कहा है कि मुसलमानोंके प्रति अपने पक्षपातके कारण गान्धीजी पाकिस्तानके राष्ट्रपिता थे। सच तो यह कि वे पाकिस्तान और हिन्दुस्तानके ही नहीं, वल्कि सम्पूर्ण विश्वके पिता थे।

गान्धीजीका वश चलता तो वे सारे हिन्दुस्तानको पाकिस्तान वना देते, इस शर्त्तपर कि उनका रचनात्मक कार्यक्रम स्वीकार किया जाय। इसी आधार पर उन्होंने सन् '२० में असहयोगके साथ खिलाफतको भी शामिल कर लिया था। गान्धीजीके कार्य्यक्रमको स्वीकार करके ही खिलाफतके नेता कांग्रेसके साथ थे। यदि उस कार्य्यक्रमका अनवरत पालन किया गया होता तो भारतकी राष्ट्रीयता ही अन्तर्राष्ट्रीयताका आदर्श वन जाती। गान्धीजीके कार्य्यक्रमका व्यतिक्रम खिलाफतके नेताओंने ही नहीं, वल्कि स्वराज्य-पार्टीको जन्म देकर कांग्रेसके कुछ नेताओंने भी कर डाला।

गान्धीजीका विश्वास था कि उनके रचनात्मक कार्य्यक्रम-द्वारा मनुष्य मानवताकी उसी सात्त्विक मनोभूमिमें पहुँच सकता है जहाँ पहुँचना सभी धर्म्मों का एकमात्र उद्देश्य है।

निःसन्देह गान्धीजीके कार्य्यक्रम से ही जीवन का स्वर्गीय निर्माण हो सकता है। उसके विना क्या हिन्दुस्तान, क्या पाकिस्तान, क्या सारा जहान, सव नरक है. 'दोजख है।

श्मशान-वैराग्य

गान्धीजीके देहावसानसे देशवासियोको कुछ समयके लिए 'श्मशान-वैराग्य' हो गया था। जो लोग मनुष्यको शरीरमे ही जीवित देखते है, उसके कार्य्योमे नही, उन्हे ही श्मशान-वैराग्य होता है।

गान्धीजीके देहान्तसे चारो ओर स्तब्धता छा गयी थी, ऐसा जान पडता था कि हमारा सर्वस्व खो गया। उनके शोकमे लोगोने आँसू बहाये, शब्दोमे श्रद्धाञ्जलियाँ दी, लेकिन जीवनका वही सडा-गला पुराना रवैया बनाये रखा जो हमारे नैतिक स्वास्थ्यके लिए घातक है। जीवनका तौर-तरीका बदले बिना लोगोकी गान्धी-भक्ति उन धार्मिकोकी ईश्वर-भक्तिकी तरह है जो पूजा तो करते है ईश्वरकी, लेकिन कार्य्योमे उसके प्रतिकूल है।

सच तो यह कि हमारे अधिकाश देशभक्त गान्धीजीके पीछे अंग्रेजोके प्रति केवल प्रतिशोधकी भावना लेकर आये थे। जनताका दुख-दर्द उनका दुखदर्द नही था, वे उसकी अपेक्षा खुशहाल थे। उनके मनका मलाल यह था कि अंग्रेजोके आगे उनका बड़प्पन दबता था। जब असहयोग-आन्दोलनका आरम्भ हुआ तब गोरागोके अहंकारपर अपने अहकारका प्रहार करनेका उन्हे सुअवसर मिल गया। जो लोग कभी सिरसे पैरतक अंग्रेजी लिबाससे ढँके थे, अंग्रेजोकी प्रतिमूर्त्ति बन कर उनसे प्रतिस्पर्द्धा करते थे, वे लोग भी खादीकी पोशाक पहनकर 'मन न रँगाये, रँगाये जोगी कपडा'-की उक्ति चरितार्थ करते रहे।

गान्धीजी जिस जनताके नेता थे उस जनतामे अहंकार नही, दैन्य था। अब जब कि गान्धी जी दिवंगत है, अहंकारियोका अहकार और जनता का दुख-दैन्य स्पष्ट हो गया है।

चिरविश्राम

गान्धीजी को भारतका नेतृत्व दक्षिण-अफ्रिकाके सत्याग्रहकी सफलतासे मिला था। यदि गान्धीजीको वहाँ सफलता न मिली होती तो आजके तथा-कथित गान्धी-भक्तोमेसे कितने लोग असहयोग-आन्दोलनमे सम्मिलित होते !

जो लोग अंग्रेजोंके प्रतिस्पर्द्धी थे उन्हें गान्धीजीके नेतृत्वसे सम्बल मिला था। गान्धीजीके प्रति उनकी श्रद्धा नैतिक नहीं, राजनैतिक थी। गान्धीजीके सात्त्विक आर्थिक कार्य्यक्रममें उनका हार्दिक विश्वास नहीं था। अपनी ओरसे कार्य्यक्रम बनाकर उसमें आगे बढ़नेकी क्षमता नहीं थी, इसलिए विवश होकर उन्होंने गान्धी-जीका कार्य्यक्रम अपना लिया था। अंग्रेजोंके साथ जब उनकी होड़ समाप्त हो गयी तब कार्य्यतः वे गान्धीजीसे विमुख हो गये। महात्मा अकेला पड़ गया। उसने बड़ी वेदनासे कहा—"आज सरकार और कांग्रेसमें मेरी सुननेवाला कोई नहीं है। पराधीन भारत जब स्वतन्त्रताके लिए संघर्ष कर रहा था तो मेरी एक पुकारपर करोड़ों आदमी इकट्ठा होते थे, लेकिन आज मैं अपनेको अकेला पाता हूँ।"

सन् '४२ की नजरबन्दीसे छूटनेके बाद यदि किसीको विश्रामकी आवश्य-कता थी तो वह गान्धीजीको थी। जेलसे वे अपनी जीवन-संगिनी कस्तूरबा और दाहिने हाथ महादेवको खोकर निकले थे। देशकी दुर्दशा और आत्मीयोंके वियोगसे वे मर्म्माहत थे। दुर्बल वृद्ध शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया था। इच्छा न होते हुए भी उन्हें मसूरीमें स्वास्थ्य-सुधारके लिए जाना पड़ा था। मंसूरीमें उनका आगमन बुद्धका आम्रपालीके यहाँ आगमन था।

भारतका (प्रकारान्तरसे सारे विश्वका) अपने मनोनुकूल निर्म्माण करनेके लिए वे १२५ वर्ष जीना चाहते थे। उनके दीर्घजीवनके लिए, उनका कार्य्यभार अपने ऊपर लेकर हमें उन्हें विश्राम देना चाहिये था। हम उन्हें विश्राम नहीं दे सके। उनके दुर्बल शरीरको बहुत प्रयास करना पड़ा। साम्प्रदायिक शान्तिके लिए पैदल-पाँव नोआखालीके गाँव-गाँव में वे भ्रमण करते रहे। वहाँसे लौटनेपर कभी राजधानीकी राजनीतिको सन्तुलित रखनेके लिए उन्हें दिल्ली दौड़ना पड़ता, कभी अपने रचनात्मक कार्य्योंको सुव्यवस्थित करनेके लिए सेवाग्राम। अन्तमें उन्हें जो विश्राम मिला, वह चिरविश्राम बन गया। जिन समस्याओंको वे सुलझाना चाहते थे उन्हीं समस्याओंने कृत्या बनकर उन्हें ग्रस लिया।

उनके बिना देश अशिव हो गया है। आज देश स्वतन्त्र है, लेकिन जनतामें स्वतन्त्रताकी सञ्जीवनी नहीं है।

स्वराज्य : स्वाभाविक राज्य

गान्धीजीने कहा था कि 'स्वतन्त्र भारतका प्रधान मन्त्री या वायसराय किसानको बनाना चाहिये।' किसानके महत्त्वको देखते हुए यह राजपद तुच्छ है। पृथ्वीका पुरुषार्थी पुत्र, विश्वका पालक-पोषक किसान तो भगवान है, सभी राज-पदोंके ऊपर उसका स्थान है, यों कहे कि सभी राजपद किसानके पादमूलमें है। देशकी कृषि-जन्य समस्याके रूपमें यह तथ्य यथार्थ होकर सामने आ गया है। जिस परिमाणमे धन है उस परिमाणमे अन्न न होनेसे अर्थशास्त्र अनर्थकी ओर बढ़ता जा रहा है।

किसानको वायसराय या प्रधान मन्त्री बनानेका अभिप्राय यह नहीं है कि सचमुच उसे उन कृत्रिम पदोंपर बैठाकर उसके मौलिक व्यक्तित्वको नष्ट कर दिया जाय। अभिप्राय यह है कि राजकाज किसानका प्रतिनिधि बनकर किया जाना चाहिये। जिसके ऊपर हमारा दारमदार है उसकी स्थितिके अनुरूप ही शासनका व्यय-भार होना चाहिये। देवी अहिल्याबाईने जैसे राज्यको शंकरजीका राज्य बना दिया था वैसे ही स्वराज्यको किसानका राज्य बनाया जा सकता है। उसकी उन्नतिमे ही राष्ट्रकी समृद्धि है।

गान्धीजीका संकेत यह था कि शासन अनुभव करे, उसका उत्तरदायित्व किसानके प्रति है। किसान प्रतीक है पृथ्वीकी तरह ही जीवनके स्वाभाविक निर्म्माणका। उसके लिए कृषि केवल एक उद्योग ही नहीं, बल्कि सामाजिक विकासके लिए नैसर्गिक प्रणाली भी है। कृषिकी स्वाभाविकता बनाये रखकर ही हम अन्यान्य उद्योगोंमें प्रकृतिस्थ रह सकते हैं। अन्यान्य श्रमिकोंकी समस्या यन्त्रप्रसूत है, कृत्रिम है; किसानकी समस्या श्रममे स्वाभाविकताकी माँग है।

क्या शासन अपने प्रयत्नोंमे भारतीय जीवनका यह मूलभूत दृष्टिकोण लेकर चल रहा है ?

यह कृषि-प्रधान देश यन्त्रोत्पादक नहीं है। यन्त्रोंमे हमारी स्वाधीनता, औद्योगिक पराधीनताका रूपान्तर मात्र रह जायगी। उदाहरणार्थ, यदि हम

ट्रैक्टरोसे खेती करें तो पेट्रोलके लिए किसी अन्य राष्ट्रके मुखापेक्षी हो जायंगे। जल और प्रकाशके लिए जैसे नल और विजलीसे हम निश्चिन्त नही रह सकते वैसे ही यन्त्रोंसे अपने उद्योगोंमें। हमारा उद्धार अपने टूटे-फूटे साधनोके सुधार से ही हो सकता है।

आधुनिक विज्ञानके सहारे चलनेसे सारे संसारकी संस्कृति और कला नष्ट हो जायगी, मन्दिरोंमें मूर्त्तियोकी तरह वह म्युजियमोमें ध्वंसावशेष मात्र रह जायगी। सभी देशोकी सस्कृति और कला कृषि और दस्तकारीके युगकी है। कृषिकी तरह संस्कृति और कलाके उगने-विकसनेके लिए भी पृथ्वीकी स्वाभाविक मिट्टी और नैसर्गिक वायुमण्डल चाहिये।

जिन युगोको हम धार्मिक कहते है वे अवैज्ञानिक नही है। यद्यपि करपात्री जीका कहना है कि वेदोमे विज्ञान दिखलाना सम्भ्रान्त व्यक्तिको मदोन्मत्त पशुकी पूँछसे बाँधना है, तथापि जिन्हे विज्ञानके विना सन्तोष नही होता वे उसे देख सकते है। देखनेके लिए समुचित दृष्टिकोण चाहिये।

आधुनिक विज्ञानमे शरीर है, आत्मा नही। उसमे प्रकृतिका वाह्यकरण है, स्पन्दन/नही। धार्मिक युगोमे विज्ञान अन्त करणके योगसे प्रज्ञान बन गया है। पञ्चभूतोसे बँधा शरीर जैसे प्राणके विना निर्जीव है वैसे ही प्रज्ञानके विना विज्ञान। आधुनिक विज्ञानमे प्रकृतिका जड उपयोग है, धार्मिक प्रज्ञानमे उसका सचेतन सहयोग। इसीलिए मेघ, मरुत, खग, पुष्प, सूर्य्य, चन्द्र इन सवकी अर्चना-वन्दना सजीव रूपमें की गयी है।

आधुनिक विज्ञान प्रकृतिपर आधिपत्य स्थापित करनेका प्रयत्न करता है, धार्मिक युगोमे उससे तादात्म्य स्थापित किया गया था। आत्मीयतापूर्ण व्यवहार न मिलनेसे जैसे मनुष्य विद्रोह करता है वैसे ही प्रकृति भी। मनुष्य और प्रकृतिके वीच शिवत्वका स्थापक है धर्म्म वह जीवनके विकासशील नियमोका नियोजक है।

गान्धीजी धार्म्मिक श्रद्धालु थे। अकारण एक पत्तेके तोडे जानेपर उन्हे कष्ट होता था, सकारण तोडे जानेपर भी वृक्षसे क्षमा चाहते थे।

आधुनिक विज्ञानके कारण आज विश्वका स्वाभाविक निर्म्माण टूटता जा रहा है। भारत, जिसे जगद्गुरु कहा जाता है, उसे गान्धीजीके पदचिह्नोपर चलकर संसारके सामने मौलिक आदर्श उपस्थित करना है। वह आदर्श है अपने उद्योगोमें प्रकृतिके साथ सचेतन सहयोग, उसीका नाम है ग्रामोद्योग। जिस आधारसे भारतका उद्धार होगा उसी आधारसे सारे संसारका।

कहा जाता है, स्वाधीन भारतके नेतृत्वकी ओर ससार देख रहा है। क्या सचमुच भारत स्वाधीन हो गया है? शासनमें स्वतन्त्र होकर मस्तिष्कसे विदेशोका अनुकरण करना स्वाधीनताका चिह्न नही है। बौद्धिक गुलामी प्रच्छन्न दासता है।

उस दिन विधान-परिषदमे डाक्टर अम्बेडकरने कहा था—"सैकडो राजवंश आये-गये किन्तु हमारी ग्राम-व्यवस्था अपरिवर्त्तित और शाश्वत रही। अंग्रेजी शासनके कारण जो दोष आ गये है, अब उन्हे ही हमे दूर करना है।"

क्या अंगेजी शासनके दोषोसे मुक्त होनेका प्रयत्न किया जा रहा है?

अंग्रेजोने राजाओ, जमीदारो, जागीरदारो और महाजनो द्वारा गाँवोका शोषण अवश्य किया, लेकिन किसी भी देशी या विदेशी उपायसे उनके मूलरूपको बदलनेका प्रयत्न नही किया, इसलिए क्षीण रूपमें ही सही, गाँवोका अपना व्यक्तित्व अभी शेष है, हमे उसीमें स्वराज्यका स्वाभाविक सञ्चार करना है।

इस समय देशके सामने अनेक समस्याएँ है, उन्हीमे शरणार्थियोकी भी समस्या है। शरणार्थियोके कारण देशकी नैतिक और सामाजिक स्थिति अस्त-व्यस्त हो गयी है। देशकी सभी समस्याएँ आर्थिक व्यवस्थामे आमूल परिवर्त्तन चाहती है। नयी आर्थिक व्यवस्था कृषिके आधारपर ही चल सकती है। कृषि ही सबके लिए सच्ची शरण है, जो राष्ट्र इस तथ्यको अभी नहीं समझते वे कल समझेगे। किसानोका असन्तोष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिका कायापलट कर देगा।

गान्धीजीके बाद कोई ऐसा प्रभावशाली पथ-प्रदर्शक सामने नहीं आया जो देशको उसके मौलिक निर्म्माणकी ओर अग्रसर कर देता। शव-दाहके बाद

तीर्थों और नदियोंमें प्रवाहित करनेके लिए जिस तरह गान्धीजीकी अस्थियोंका चयन किया गया उसी तरह उनकी सृजनात्मक शक्तियोंको एकत्र कर यदि चारों ओर बिखेर दिया जाता तो आज देशका स्वरूप ही कुछ और होता : शासन, उद्योग, संस्कृति और कलामें इतनी विच्छिन्नता-निरवलम्बता नहीं रहती, सब राष्ट्रीय शक्तियाँ एक ही सहस्रांशुकी विकीर्ण किरणें जान पड़तीं।

गान्धीजीके बाद देश फिर वहीं पहुँच गया जहाँ सन् '२० के पहिले था : जागृतिका आलोक बुझ गया, स्वार्थोंका पुञ्ज-पुञ्ज कल्मष घनीभूत हो गया। जान ही नहीं पड़ता कि गान्धी नामका कोई ज्योतिर्मय महात्मा कभी इस देशमें आया था।

खादी अब भी रक्षा-बन्धनकी तरह हमारे साथ है, लेकिन उसका जीवन-मन्त्र हम भूलते जा रहे हैं।

हमारी दृष्टि इस समय कांग्रेसके जयपुर-अधिवेशनकी ओर है। कांग्रेसके प्रधान मन्त्री श्री शंकर राव देवने अपने एक वक्तव्यमें कहा है—"यह एक शुभ शकुन है कि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद कांग्रेसका प्रथम अधिवेशन जयपुरमें हो रहा है। स्वातन्त्रता-प्राप्तिके बाद कांग्रेसके सामने मुख्य कार्य्य अहिंसात्मक सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति करनेका था। मैं आशा करता हूँ कि जयपुर-अधिवेशनमें राज-नीतिक विजयका उत्सव मनानेके अतिरिक्त ऐसी क्रान्तिका कार्य्यक्रम उपस्थित होगा जो कि मुख्य रूपसे गान्धीजी द्वारा समर्थित तरीकोंपर आधारित होगा।"

एवमस्तु।

काशी,
१७-११-४८

पुनश्च

जयपुरका कांग्रेस-अधिवेशन सकुशल सम्पन्न हो गया। विरोधी शक्तियोंको उसमे निराशा हुई। किन्तु गान्धी-नगरमे 'सर्वोदय प्रदर्शिनी' युग-युगके ज्योतिर्विन्दु की तरह जुगजुगा रही थी। कांग्रेसके लिए वास्तविक 'अखण्ड ज्योति' वही थी। उसी ज्योतिको दिशा-दिशामे प्रज्वलित कर देना ही अव कांग्रेसका सर्वोपरि कर्त्तव्य होना चाहिये। कांग्रेसके अध्यक्ष सीतारामैयाने अभी हालमे कहा है—'महात्मा गांधीका कुटीर उद्योगके विस्तारवाला सिद्धान्त वर्तमान मुद्रा-स्फीतिको मिटानेके लिए सर्वोत्तम अस्त्र है।" क्या हम आशा करे कि इन शब्दोको कार्य्यान्वित किया जायगा? कांग्रेसकी भावी सार्थकता इसीमे है, नेताओके दर्शनों और शानदार अधिवेशनोमे नही।

गान्धीजीकी निर्वाण-तिथि, ३० जनवरीको कांग्रेस कार्य्यसमितिके आदेशसे सारे देशने 'सर्वोदय-दिवस' मनाया। सच तो यह कि रचनात्मक कार्य्योंमें लगकर हमारा प्रत्येक दिन सर्वोदय-दिवस बन जाना चाहिये।

काशी,
शिवरात्रि
२५।२।४९

वन्देमातरम्

वन्देमातरम्
सुजलाम्-सुफलाम् मलजय-शीतलाम्
शस्य-श्यामलाम् मातरम् ।

शुभ्र ज्योत्स्ना - पुलकित - यामिनीम्
फुल्ल कुसुमित द्रुमदल - शोभिनीम्
सुहासिनीम् सुमधुर भाषिणीम्
सुखदाम् वरदाम् मातरम् ।

त्रिंशकोटिकण्ठ - कलकल - निनादकराले
द्विंत्रिंशकोटि - भुजैर्धृत - खरकरवाले
के बोले मा । तुमि अबले
बहुबल धारिणीम् नमामि तारिणीम्
रिपुदल - वारिणीम् मातरम् ।

तुमि विद्या तुमि धर्म्म
तुमि हृदि तुमि मर्म्म
त्वहि प्राणा शरीरे
बाहु ते तुमि मा । शक्ति
हृदये तुमि मा । भक्ति

तोमारइ प्रतिमा गड़ि मन्दिरे-मन्दिरे
त्वहि दुर्गा दश प्रहरणधारिणी
वाणी - विद्यादायिनी नमामि त्वां
नमामि कमलाम् अमलाम् अतुलाम्
सुजलाम् सुफलाम् मातरम् ।

वन्देमातरम

श्यामलाम् सरलाम् सुस्मिताम् भूषिताम्
धरणीम् भरणीम् मातरम् ।

राष्ट्रगीत बंकिमका वन्देमातरम् हो या रवीन्द्रका 'जनमनगण अधिनायक जय' हो ?—स्वतन्त्र देशकी आत्माको स्वर देनेके लिए हमारे सामने यह प्रश्न है।

राष्ट्रगीतका संकलन इस दृष्टिसे किया जा सकता है कि जिस देशको हम वन्दनाकी वाणी देना चाहते हैं उस देशकी आत्माका आदर्श क्या है। हमने भारतको माताका स्वरूप दिया है। इस दृष्टिसे भारतका आदर्श पारिवारिक अथवा गार्हस्थिक स्नेह-सुषमा है। इसीके द्वारा वह परमात्मकी ओर बढता है।

आजाद हिन्द फौजने भी अपने कुछ राष्ट्रीय गीत प्रस्तुत किये थे, वे सैनिक गीत थे। उसके 'जय हिन्द' ने माताका रूप ओझल कर दिया, देश एक भौगोलिक नकशा मात्र रह गया। उसमे हमारी संस्कृतिकी सजीवता नहीं।

देशकी राजनीतिक स्थितिके अनुसार राष्ट्रगीतका रूप बदलता रहा है, ऋतुओंकी तरह। बंकिमके वन्देमातरम् मे सौन्दर्य्य और शौर्य्य है। अहिंसात्मक आन्दोलनके दिनोमे हमने उसका सुन्दर अंश ही लिया। अब जब कि देशको शक्ति और श्री दोनो चाहिये, बंकिमका सम्पूर्ण गीत वरेण्य हो गया है।

किसी समय रवीन्द्रके 'जन-मन-गण-अधिनायक जय हे' का राष्ट्रघोष हो रहा था। इस गीतकी रचनाका जो इतिहास है उसके कारण यह असामयिक हो गया है। लेकिन सामयिकताकी ही दृष्टिसे देखे तो बंकिमका वन्देमातरम् भी अतीतकालीन हो गया है। 'त्रिंशकोटि कण्ठ' की संख्या आगे बढ गयी है, और कभीका शस्य-श्यामल देश आज अकालसे त्राहिमाम् कर रहा है।

देशकी वर्तमान स्थितिके अनुरूप भारत माताका चित्र कविकी इन पंक्तियोमे प्रतिबिम्बित है—

भारत माता
ग्रामवासिनी।
खेतोंमे फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आंचल,
गंगा यमुनामें आँसू जल,
मिट्टीकी प्रतिमा
उदासिनी।

दैन्य जडित अपलक नत चितवन,
अधरोंमें चिर नीरव रोदन,
युग युगके तमसे विपण्ण मन,
वह अपने घरमें
प्रवासिनी।

तीस कोटि सन्तान नग्नतन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़ असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नतमस्तक
तरुतल निवासिनी।

स्वर्ण शस्य पर-पदतल लुण्ठित
धरनी-सा सहिष्णु मन कुण्ठित,
क्रन्दन कम्पित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी।

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञान मूढ
गीता प्रकाशिनी।

सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जनमन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी।

—(पन्त · 'ग्राम्या')

इस गीतकी अन्तिम पंक्तियाँ एक ओर गान्धी-युगके भारतका, दूसरी ओर भावी युगके अमृतत्त्वका संकेत करती हैं।

राष्ट्रगीतका गायन देश-कालके अनुसार होना चाहिये। रवीन्द्रके 'जन-मन-गण-अधिनायक' का जयगान भी किसी समय उपयुक्त जान पड़ता था। सम्राट के भारत आगमनके समय वह राजराजेश्वरका स्तवन था। लेकिन इसमें जो जननायकताका भाव है वह राष्ट्रीय नेताओंकी भी समुचित अभ्यर्थना करता है। इस गीतके लिए सबसे उपयुक्त समय वह था जब सन् '४२ की नजरबन्दीसे छूटनेके बाद सन्' ४५ में हमारे जननायक बम्बईमें एकत्र हुए थे। इसके बाद सन्' ४७ के १५ अगस्तको जब भारत स्वतन्त्र हुआ, उस समय भी इस गीतके लिए उपयुक्त अवसर था। इस गीतकी ये पंक्तियाँ स्वतन्त्रता-दिवसकी प्रभाती-जैसी लगती हैं—

"रात्रि प्रभातिल उदित रविच्छवि पूर्व उदयगिरि भाले,
गाहे विहंगम, पुण्यसमीरण नव-जीवन-रस ढाले।'

आज इस जनतन्त्रके युगमे 'जनमनगण-अधिनायक' अधिनायकवादका अधिष्ठाता जान पड़ेगा। सामयिकता चपलाकी तरह, क्षण-क्षण कितनी परिवर्तनशीला है, यह हमारे राष्ट्रीय गीतोसे स्पष्ट हो जाता है। भविष्यमे जब केवल जनता-जनार्दन ही वन्दनीय होगी तब उसके अनुरूप राष्ट्रगीतकी नयी रचना करनी पड़ेगी। शायद तब हम गायेगे—

जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे।
वर्गमुक्त हम श्रमिक कृषक जन
चिर शरणागत हे,
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे!

—(पन्त : 'ग्राम्या')

'जन मन गण अधिनायक' की लयपर भी कविवर पन्तजीने एक राष्ट्रीय गीत प्रस्तुत किया है। इसमे अपेक्षाकृत स्थायित्व है—

जय जन भारत, जन मन अभिमत,
जन गण तन्त्र विधाता।
गौरव भाल हिमाद्रि तपोज्ज्वल,
हृदय हार गङ्गा जल,
कटि विन्ध्याचल, सिन्धु चरण तल,
महिमा शाश्वत गाता।
हरे खेत लहरे नद निर्झर
जीवन शोभा उर्वर,

विश्व - कर्म - रत कोटि वाहु-कर
अगणित पद ध्रुव पथ पर ।

प्रथम सभ्यता ज्ञाता, साम ध्वनित गुण गाथा,
जय नव मानवता निर्माता, सत्य अहिंसा दाता ।
जय हे, जय हे, जय हे, शांति अधिष्ठाता ।
प्रयाण तूर्य वज उठे,
पटह तुमुल गरज उठे,
विशाल सत्य सैन्य, लौह भुज उठे ।
शक्ति स्वरूपिणि वहुवल धारिणि वंदित भारतमाता ।
धर्मचक्ररक्षित तिरंग ध्वज अपराजित फहराता ।
जय हे, जय हे, जय हे, अभय, अजय, त्राता ।

कविका काम केवल समयके साथ-साथ दौडना नही है। समयका साथ देनेके लिए वह सदैव सदेह नही रहेगा। एक जीवनमे अनन्त जीवनकी तरह एक युगमे अयुत युगोका गान उसे गाना है। उसे सामयिक गीतोमे ऐसे स्थायी भावोका सञ्चार कर देना चाहिये जो सर्वकाल-सर्वदेशके लिए प्राणोन्मेपी हो। हमारी ऋचाओमे ऐसे ही भाव हैं। राष्ट्रगीतोकी सार्थकता यह है कि वे अपने जीवन-मन्त्रसे ऋचाओकी तरह हमारे अन्त करणका चिरन्तन उन्नयन करते रहे।

देशके लिए राष्ट्रगीतका संकलन केवल राजनीतिक श्रद्धाकी दृष्टिसे नही, वल्कि साहित्यिक श्रद्धाकी दृष्टिसे भी करना चाहिये। कविका काव्योपहार स्वीकार कर हम उसके प्रति अपना राष्ट्रीय आभार प्रकट करते है।

रवीन्द्रनाथका 'जन-मन-गण-अधिनायक' यद्यपि इस समय अनुपयुक्त जान पड़ता है, तथापि राष्ट्र उनका भी आभार ले सकता है। जननायकके स्थानपर हम उनका यह स्थायी गीत गा सकते है—

वन्देमातरम्

अयि भुवन - मनोमोहिनी,
अयि उज्ज्वल सूर्य्य - करोज्ज्वल धरणी
जनक - जननी - जननी।

नील-सिन्धु-जल-धौत चरणतल
अनिल - विकम्पित श्यामल अञ्चल
अम्बर - चुम्बित भाल हिमाचल
शुभ्र तुषार - किरीटिनी
अयि भुवन-मनोमोहिनी !

काशी,
शुक्रवार १९।११।४८